महावीर-वाणी

प्रस्तावना लेखक

डॉ० भगवान्दास

संपादक

बेचरदास दोशी

सर्वोदय साहित्य माला
१०६वाँ ग्रंथ

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

शाखाएँ

दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर : वर्धा : कलकत्ता : इलाहाबाद

जनवरी १९४२, २०००

मूल्य

अजिल्द एक रुपया

सजिल्द डेढ़ रुपया

मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

मुद्रक
जे० के० शर्म्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

समर्पण

पुण्यचेता श्री पुण्यविजयजी मुनि

तथा

पुण्यचेता उपाध्याय श्री अमरचंदजी मुनि
की विद्याचरण-संपत्ति को प्रस्तुत संपादनफल
सादर समर्पण करता हूँ।

बेचरदास

संपादकीय

'महावीर-वाणी' के इस रूप में आने की एक लम्बी कहानी है। बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी कि एक ऐसे छोटे से ग्रन्थ के संकलन का आयोजन होना चाहिए जो जैनधर्म के प्रमुख अंगादि शास्त्रों का दोहन हो और जिसमें जैनधर्म का सर्वधर्मसमभाव-पूर्ण कार्य अच्छी तरह से प्रतिबिम्बित हो सके। जब मेरे स्नेही विद्यार्थी श्री शान्तिलाल वनमाली शेठ (न्यायतीर्थ, अध्यापक—जैन गुरुकुल, ब्यावर) ने जैन सूत्रों में से ऐसा संकलन करके मुझे दिखाया तो मैंने समझा कि मेरा संकल्प सिद्ध हुआ।

उक्त संकलन के संशोधन होने के बाद उस पर मेरे मित्र पंडित प्रवर प्रज्ञाचक्षु श्री सुखलालजी संघवी (आचार्य जैनशास्त्र, हिंदू-विश्व-विद्यालय, काशी) की वेधक दृष्टि फिरी और पुनः उपयोगी संशोधन हुए। इस प्रकार 'महावीर-वाणी' प्रस्तुत हुई।

साथ ही 'सर्वारम्भाः तण्डुलप्रस्थमूलाः'—न्याय से उसके लिए हमारे चिर-परिचित एक उदार मारवाड़ी सज्जन श्री मानमलजी गोलेच्छा [प्रतिनिधि—शंकरलाल मानमलजी, खीचन (फलौधी, मारवाड़)] से अर्थ-सहायता भी उपलब्ध हो गयी। वह विद्याप्रेमी और विद्योपासक हैं, ज्ञानप्रचार और जनहित में सदैव

'वाणी' का हिन्दी भाषान्तर मेरे प्रिय विद्यार्थी श्री अमरचन्दजी मुनि (कवि—उपाध्याय) ने किया है और उसका संशोधन श्री वियोगी हरि ने करने की कृपा की है। इनका भी आभार मानना उचित है।

यद्यपि मैंने मूल के संपादन तथा संशोधन में भरसक सावधानी रखी है, तो भी मेरी आँखें कमजोर होने के कारण उसमें त्रुटियाँ रह जाना शक्य है; पाठकगण कृपया उन्हें क्षमा करें।

१२/ब, भारतीनिवास सोसाइटी,
अहमदाबाद नं० ६
बेचरदास जीवराज दोशी

दत्तचित्त रहते हैं और राष्ट्र प्रेम में रंगे हुए हैं। 'महावीर-वाणी' की रामकहानी सुनते ही उन्होंने सत्वर भाई शान्तिलाल को उचित पारिश्रमिक-पारितोषिक भेंट करके उसके संपादन के लिए मुझे उत्साहित किया।

भाई मानमलजी की इच्छा थी कि 'महावीर-वाणी' का अधिक से अधिक प्रचार हो, अतः उनके परामर्श से इसे 'सस्ता-साहित्य मंडल' (नई दिल्ली) द्वारा प्रकाशित कराने का निश्चय किया गया। 'मंडल' के संचालक-मंडल से इसके लिए शीघ्र ही स्वीकृति प्राप्त हो गयी और उसीका फल है कि यह ग्रन्थ पाठकों के सामने है।

भाई मानमलजी ने सेवा-भावना से प्रेरित होकर तथा अपने काका की स्मृति में आयोजित 'गोलेच्छाग्रन्थमाला' के अन्तर्गत निकालने के पूर्व निश्चय का परित्याग करके यह ग्रन्थ प्रकाशनार्थ 'सस्ता-साहित्य-मंडल' को दिया है। अतः सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र वे हैं। 'सस्ता-साहित्य-मंडल' के संचालक का भी मैं विशेष ऋणी हूँ।

मूल पाठ को ठीक-ठीक संशोधन तथा संपादन का भार भाई मानमलजी का सौंपा हुआ मैंने उठाया है और दिल्ली निवासी भाई गुलाबचन्द जैन के प्रबल अनुरोध से भारत प्रसिद्ध, समन्वयदर्शी विद्वद्वर डा० भगवान्‌दास जी ने इसकी प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। अतः हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

प्रस्तावना

सन् १९३५ से सन् १९३८ ई० तक, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली का सदस्य होने के कारण, मुझको, प्रति वर्ष, ढाई तीन महीने, माघ-फाल्गुन-चैत्र में, नई दिल्ली में रहना पड़ा। दिल्ली निवासी श्री गुलाबचन्द जैन, वहाँ, कई बेर, मुझसे मिलने को आये, और किसी प्रसंग में, श्री बेचरदासजी की चर्चा उन्होंने की। सन् १९३९ में, मार्च के महीने में, गुलाबचन्द जी, किसी कार्य के वश, काशी आये; मुझसे कहा कि श्री बेचरदास जी ने, जो अब अहमदाबाद कालिज में प्राकृत भाषा और जैन दर्शन के अध्यापक हैं, "महावीर-वाणी" नाम से एक ग्रन्थ का संकलन किया है, और उनकी बहुत इच्छा है कि तुम (भगवान्दास) उसकी प्रस्तावना लिख दो। मैंने उनको समझाने का यत्न किया; मेरा वयस् ७२ वर्ष का; आँखें दुर्बल; सब शक्ति क्षीण; तीन चार ग्रंथ अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत के, जिनके कुछ अंश लिख और छप भी गये हैं, पूर्ण करने को पड़े हुए; अन्य, सामाजिक जीवन में अनिवार्य, झंझटों की भी कमी नहीं; थोड़ा भी नया काम उठाना मेरे लिये नितान्त अनुचित; सर्वोपरि यह कि मैं प्राकृत भाषा और जैन साहित्य से अनभिज्ञ। पर गुलाबचन्द जी ने एक नहीं माना; दिल्ली जाकर, पुनः पुनः मुझको लिखते

ही रहे, कि श्री बेचरदास जी ने निश्चय कर लिया है, कि बिना मेरी प्रस्तावना के, ग्रंथ छपेगा ही नहीं। इस प्रीत्याग्रह के आगे, मुझको मानना ही पड़ा।

श्री गुलाबचन्द जी, "महावीर-वाणी" की हस्त-लिखित प्रति ले कर, स्वयं काशी आये। मैंने समग्र ग्रंथ, अधिकांश उनसे पढ़वा कर, शेष स्वयं देख कर, समाप्त किया। महावीर-स्वामी की, लोक के हित के लिये कही, करुणामयी, वैराग्य भरी, वाणी को सुन और पढ़ कर, चित्त में श्रान्ति के स्थान में प्रसन्नता ही हुई, और सात्त्विक भावों का अनुभव हुआ।

महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध, कुछ वर्षों की छुटाई बड़ाई से, समकालीन हुए—यह निर्विवाद है। किन्तु इन दोनों महापुरुषों के जन्म और निर्वाण की ठीक तिथियों के विषय में ऐतिह्यविदों में मतभेद है; तथापि यह सर्व-सम्मत है कि विक्रम पूर्व छठी शताब्दी में दोनों ने उपदेश किया। जैन सम्प्रदायों का विश्वास है कि महावीर का, जिनका पूर्व-नाम "वर्धमान" है, जन्म, विक्रम पूर्व ५४२ और निर्वाण वि० पू० ४७०, में हुआ।

उस समय में "लिपि" कम थी, "श्रुति" और "स्मृति" की ही रीति अधिक थी; गुरु के, ऋषि के, महापुरुष के, आचार्य के वचनों को श्रोतागण सुनते और स्मृति में रख लेते थे। महावीर के निर्वाण के बाद दूसरी शताब्दी में बड़ा अकाल पड़ा; जिनानुयायी, "क्षपण"

या "श्रमण" कहलाने वाले, साधुओं का संघ बहुत बिखर गया; कंठ करने की परम्परा में भंग हुआ; बहुत उपदेश लुप्त हो गये। अकाल मिटने के बाद, स्थूलभद्राचार्य की देख रेख में, पाटलिपुत्र में संघ का बड़ा सम्मेलन हुआ; बचे हुए उपदेशों का अनुसन्धान और राशीकरण हुआ; पर लिखे नहीं गये। महावीर निर्वाण की नवीं शताब्दी (वीर-निर्वाण ८२७-८४० तक) में, मथुरा में स्कंदिलाचार्य, और वलभी में नागार्जुन, के आधिपत्य में, सम्मेलन होकर, उपदेशों का संग्रह किया गया, और उन्हें लिखवाया भी गया। निर्वाण की दसवीं शताब्दी में बहुत से श्रुतधारी साधुओं का विच्छेद हुआ। इस बेर, देवर्धिगणि क्षमा श्रमण ने अवशिष्ट संघ को वलभी नगर में एकत्र करके उक्त दोनों, माथुरी और वलभी वाचनाओं, की समन्वय-पूर्वक लिपि कराई। जिनोक्त सूत्र के नाम से प्रसिद्ध वाक्यों के संग्रहीता, यह देवर्धिगणि ही माने जाते हैं। उमा-स्वाति के "तत्त्वार्थाधिगम सूत्र", जो प्राय: जिननिर्वाण के ४७१, अर्थात् विक्रम संवत् के प्रारम्भ, के लगभग, किसी समय में, लिखे गये, और जिनमें जैनदर्शन का सार बहुत उत्तम रीति से कहा है, वे इनसे भिन्न हैं। देवर्धिगणि के संकलित सूत्र, आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक सूत्रादि को देखने का मुझे अवसर नहीं मिला। श्री बेचरदास जी ने, उन्हीं सूत्रों में से, स्वयं महावीर स्वामी के कहे श्लोकों का उद्धरण और संदर्भण, प्रस्तुत ग्रंथ "महावीर-वाणी" में किया है।

२५ सूत्रों, वा अध्यायों में, ३४५ प्राकृत श्लोकों, और उनके हिन्दी अनुवादों का संग्रह है। मुझको नहीं ज्ञात है, कि जैन वाङ्मय में इस प्रकार का कोई ग्रंथ, प्राचीन, है वा नहीं। प्रायः न होगा; अन्यथा श्री बेचरदास जी को यह परिश्रम क्यों करना होता। बौद्ध वाङ्मय में, एक छोटा, पर बहुत उत्तम ग्रंथ, "धम्म-पद" के नाम से, वैसा ही प्रसिद्ध है, जैसा वैदिक वाङ्मय में "भगवद्गीता"; "धम्म-पद" भी स्वयं बुद्धोक्त पद्यों का संग्रह कहा जाता है। संभव है कि "महावीर-वाणी", जैन सम्प्रदाय में प्रायः वही काम देने लगे, जो बौद्ध सम्प्रदाय में धम्मपद देता है।

भेद इतना है कि, "महावीर-वाणी" के अधिकतर श्लोक, संसार की निन्दा करने वाले, वैराग्य जगाने वाले, यतिधर्म संन्यास-धर्म सिखाने वाले हैं; गृहस्थोपयोगी उपदेश कम हैं, पर हैं; विनय सूत्राध्याय में कितने ही उपदेश गृहस्थोपयोगी हैं।

मुझे यह देख कर विशेष आनन्द हुआ कि बहुतेरे श्लोक ऐसे हैं, जिनके समानार्थ श्लोक प्रामाणिक वैदिक और बौद्ध ग्रंथों में भी बहुतायत से मिलते हैं। प्रथम मंगलाध्याय के बाद के ६ अध्यायों में पाँच धर्मों की प्रशंसा की है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। मनुस्मृति, बौद्ध पंचशील, योग-सूत्र आदि, इन्हीं पाँच का उपदेश करते हैं। ये, गृहस्थ, श्रावक, उपासक के लिये भी, देश-काल-समय के (शर्त के) अवच्छेद के साथ, उपयोगी हैं; और यति,

संन्यासी, भिक्षु, क्षपण, श्रमण के लिये भी अधिकाधिक मात्रा में, उन अवच्छेदों को दिन दिन कम करते हुए, परमोपयोगी हैं; जब वह सर्वथा समयों (शर्तों) से अनवच्छिन्न हो जाते हैं, तब "महाव्रत" होकर सद्यः मोक्ष के हेतु होते हैं।

अहिंस-सच्चं च, अतेणगं च, तत्तो य बम्भं, अपरिग्गहं च,
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विद्।
—धम्मसुत्त, श्लोक २

ब्राह्मण सूत्राध्याय के भाव वैसे ही हैं, जैसे महाभारत के शांति-पर्व में कहे हुए प्रायः बीस श्लोकों के हैं, जिनमें से प्रत्येक के अन्तिम शब्द यह हैं, "तं देवा ब्राह्मणं विदुः"। धम्मपद में भी "ब्राह्मण वग्गो" में ऐसे ही भाव के श्लोक हैं।

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो;
यम्हि सच्चं च धम्मो च, सो सुची, सो च ब्राह्मणो।
न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्ति-सम्भवं,
अकिंचनमनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। (धम्मपद)

"महावीर-वाणी" में कहा है,

अलोलुपं, मुहाजीविं अणगारं अकिंचनं,
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बुम माहणं।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होई खत्तियो,

बइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

जैन आगम उत्तराध्ययन, अ० २५, गाथा २८-३२

कुछ लोगों को यह भ्रांति होती है कि महावीर और बुद्ध ने वर्णव्यवस्था को तोड़ने का यत्न किया। ऐसा नहीं है; उन्होंने तो उसको केवल सुधारने का ही यत्न किया है। महाभारत में पुनः पुनः स्पष्ट शब्दों में, वही बात कही है, जो महावीर ने कही है।

न योनिर्नापि संस्कारो, न श्रुतं न च संततिः,

कारणानि द्विजत्वस्य; वृत्तमेव तु कारणम्।

न विशेषोऽस्ति वर्णानां, सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि, कर्मभिर्वर्णतां गतम्।

महावीर ने और बुद्ध ने, दोनों ने, "कर्मणा वर्णः" के सिद्धान्त पर ही ज़ोर दिया। यही सिद्धान्त, उत्तम वर्ण-व्यवस्था का मूल मंत्र है; इसके न मानने से, इसके स्थान पर "जन्मना वर्णः" के अपसिद्धान्त की स्थापना कर देने से ही, भारतीय जनता की वर्त्तमान घोर दुर्दशा हो रही है।

यह खेद का स्थान है कि जैन सम्प्रदाय में भी व्यवहारतः जिनोपदिष्ट सिद्धान्त का पालन नहीं होता; प्रत्युत उसके विरोधी अप-सिद्धान्त का अनुसरण हो रहा है। मैं आशा करता हूँ, कि

"महावीर-वाणी" के द्वारा, जैन सम्प्रदाय का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा, और सम्प्रदाय के माननीय विद्वान् यति जन, इस, महावीर के, समाज और गार्हस्थ्य के परमोपयोगी उपदेश, आदेश का जीर्णोद्धार अपने अनुयायियों के व्यवहार में करावेंगे।

अन्त में, इतना ही कहना है कि मैं, प्रकृत्या, समन्वयवादी, सम्वादी, सादृश्यदर्शी, ऐक्यदर्शी हूँ; विरोधदर्शी, विवादी, वैदृश्यान्वेषी, भेदावलोकी नहीं हूँ। मेरा यही विश्वास है कि सभी लोकहितेच्छु महापुरुषों ने उन्हीं उन्हीं सत्यों, तथ्यों, कल्याण-मार्गों का उपदेश किया है, जीवन के पूर्वार्ध में लोक-यात्रा के साधन के लिये, और परार्ध में परमार्थ-मोक्ष-निर्वाण-निःश्रेयस के साधन के लिये; भारत में तो महर्षियों ने, महावीर स्वामी ने, बुद्ध देव ने, मुख्य मुख्य शब्द भी प्रायः वही प्रयोग किये हैं।

'महावीर-वाणी' के अन्तिम 'विवाद सूत्र' में, कई वादों की चर्चा कर दी है। और उपसंहार बहुत अच्छे शब्दों में कर दिया है—

एवमेयाणि जम्पन्ता, बाला पंडितमाणिणो,
नियया॑नियय सन्तं, अयाणन्ता अबुद्धिया।

अर्थात्,

एवमेते हि जल्पन्ति, बालाः पण्डितमानिनः,
नियताऽनियतं सन्तं, अजानन्तो ह्यबुद्धयः।

यही आशय उपनिषत् के वाक्य का है,

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः,
स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः,
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः,
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।

आज काल के पांडित्य में, शब्द वहुत, अर्थ थोड़ा; विवाद बहुत, सम्वाद नहीं; अहमहमिका, विद्वत्ता-प्रदर्शनेच्छा बहुत, सज्ज्ञानेच्छा नहीं; द्वेष द्रोह बहुत, स्नेह प्रीति नहीं; असार-पलाल बहुत, सार-धान्य नहीं; अविद्या-दुर्विद्या बहुत, सद्विद्या नहीं; शास्त्र का अर्थ, मल्लयुद्ध। प्राचीन महापुरुषों के वाक्यों में, इसके विरुद्ध, सार, सज्ज्ञान, सद्भाव वहुत, असार और असत् नहीं। क्या किया जाय, मनुष्य की प्रकृति ही में, अविद्या भी है, और विद्या भी; दुःख भोगने पर ही वैराग्य और सद्बुद्धि का उदय होता है।

सा बुद्धिर्यदि पूर्वं स्यात् कः पतेदेव बन्धने?

फिर फिर अविद्या का प्राबल्य होता है; वैमनस्य, अशांति, युद्ध, समाज की दुर्व्यवस्था बढ़ती है; सत् पुरुषों महापुरुषों का कर्तव्य है कि प्राचीनों के सदुपदेशों का, पुनः पुनः जीर्णोद्धार और प्रचार करके, और सब की एकवाक्यता, समरसता, दिखा के, मानवसमाज में, सौमनस्य, शांति, तुष्टि, पुष्टि का प्रसार करें, जैसा महावीर और बुद्ध ने किया।

जैन शास्त्र के प्रसिद्ध दो श्लोक, एक हिन्दी का और एक संस्कृत का, मैंने बहुत वर्ष हुए, श्री शीतलप्रसाद जी ब्रह्मचारी (जैन) से सुने; मुझे बहुत प्रिय लगे।

कला बहत्तर पुरुष की, वा में दो सरदार,
एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।

आस्रवो बन्धहेतुः स्यान् मोक्षहेतुश्च संवरः,
इतीयम आर्हती मुष्टिः सर्वमन्यत् प्रपञ्चनम्।

वैशेषिक सूत्र है,

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।

तथा वेदान्त का प्रसिद्ध श्लोक है,

बन्धाय विषयाऽऽसक्तं, मुक्त्यै निर्विषयं मनः,
एतज् ज्ञानं च मोक्षश्च, सर्वोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः।

समय समय के सम्प्रदायाचार्य, यदि ऐसे विरोध-परिहार पर, सम्वाद पर, अधिक ध्यान दें और दिलावें, तो पृथ्वी पर स्वर्ग हो जाय। पर प्रायः स्वयं महा "आस्रव"-ग्रस्त होने के कारण, यति-भिक्षु-संन्यासी का रूप रखते हुए भी, भेद-बुद्धि, कलह, राग-द्वेष ही मनुष्यों में बढ़ाते हैं। यहाँ तक कि स्वयं महावीर और बुद्ध के जीवनकाल में ही, (यथा ईसा और मुहम्मद के जीवनकाल में ही),

प्रत्येक के अनुयायियों में भेद हो गये; और एक के अनुयायी क्षपणों और दूसरे के अनुयायी श्रमणों, में मारपीट तक हुई, जिसका वर्णन क्षेमेन्द्र ने "अवदान-कल्पलता" काव्य में किया है। और उन दोनों के निर्वाण के पश्चात् तो कितने ही भिन्न भिन्न 'पंथ' प्रत्येक के अनुयायियों में हो गये। मैं आशा करता हूँ कि इन भेदों के मिटाने में, और संवाद बढ़ाने में, यह 'महावीर-वाणी' सहायता करेगी।

काशी—
सौर १०–४–१९९७ वि० } भगवान्दास

विषय-सूची

महावीर-वाणी

: १ :

मंगल-सुत्तं

नमोक्कारो

नमो अरिहंताणं ।
नमो सिद्धाणं ।
नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच नमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

मंगलं

अरिहंता मंगलं ।
सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगलं ।

: १ :

मङ्गल-सूत्र

नमस्कार

अर्हन्तों को नमस्कार;

सिद्धों को नमस्कार;

आचार्यों को नमस्कार;

उपाध्यायों को नमस्कार;

लोक (संसार) में सब साधुओं को नमस्कार।

—यह पंच नमस्कार समस्त पापों का नाश करनेवाला है, और सब मंगलों में प्रथम (मुख्य) मंगल है।

मङ्गल

अर्हन्त मंगल हैं;

सिद्ध मंगल हैं;

साधु मंगल हैं;

केवली-प्ररूपित अर्थात् सर्वज्ञ-कथित धर्म मंगल है।

लोगुत्तमा

अरिहंता लोगुत्तमा ।
सिद्धा लोगुत्तमा ।
साहू लोगुत्तमा ।
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

सरणं

अरिहंते सरणं पवज्जामि ।
सिद्धे सरणं पवज्जामि ।
साहू सरणं पवज्जामि ।
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।

लोकोत्तम

अर्हन्त लोकोत्तम (संसार में श्रेष्ठ) हैं;

सिद्ध लोकोत्तम हैं;

साधु लोकोत्तम हैं;

केवली-प्ररूपित धर्म लोकोत्तम हैं।

शरण

अर्हन्तों की शरण स्वीकार करता हूँ;

सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ;

साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ;

केवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

: २ :

धम्म-सुत्तं

(१)

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसन्ति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

(२)

अहिंस सच्चं च अतेणगं च,
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च ।
पड़िवज्जिया पंच महव्वयाणि,
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू ॥२॥

(३)

पाणे य नाइवाएज्जा, अदिन्नं पि य नायए ।
साइयं न मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥३॥

(४)

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥४॥

: २ :

धर्म-सूत्र

(१)

धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है।

(कौन-सा धर्म ?) अहिंसा, संयम और तप।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

(२)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके बुद्धिमान मनुष्य जिन-द्वारा उपदेश किये धर्म का आचरण करे।

(३)

छोटे-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न करे; अदत्त (बिना दी हुई वस्तु) न ले, विश्वासघाती असत्य न बोले—यह आत्मनिग्रही सत्पुरुषों का धर्म है।

(४)

जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है, और उत्तम शरण है।

(५)

अद्धाणं जो महन्तं तु, अप्पाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥५॥

(६)

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ ॥६॥

(७)

अद्धाणं जो महन्तं तु, सपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा-विवज्जिओ ॥७॥

(८)

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥८॥

(९)

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥९॥

(५)

जो पथिक बिना पाथेय लिये बड़े लंबे मार्ग की यात्रा पर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से पीड़ित होकर अत्यंत दुखी होता है।

(६)

और जो मनुष्य बिना धर्माचरण किये परलोक जाता है, वह वहाँ विविध प्रकार की आधि-व्याधियों से पीड़ित होकर अत्यंत दुखी होता है।

(७)

जो पथिक बड़े लंबे मार्ग की यात्रा पर अपने साथ पाथेय लेकर जाता है, वह आगे जाता हुआ भूख और प्यास से तनिक भी पीड़ित न होकर अत्यंत सुखी होता है।

(८)

और जो मनुष्य यहाँ भलीभाँति धर्म का आराधन करके परलोक जाता है, वह वहाँ अल्पकर्मी तथा पीड़ारहित होकर अत्यंत सुखी होता है।

(९)

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जान-बूझकर भी साफ़-सुथरे राजमार्ग को छोड़कर विषम (ऊँचे-नीचे, ऊबड़-खाबड़) मार्ग पर जाता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

(१०)

एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गेव सोयई ॥१०॥

(११)

जहा य तिन्नि वाणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहइ लाभं एगो मूलेण आगओ ॥११॥

(१२)

एगो मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥१२॥

(१३)

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं ॥१३॥

(१४)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ ॥१४॥

(१०)

उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी धर्म को छोड़कर, अधर्म को ग्रहण कर, अन्त में मृत्यु के मुँह में पड़कर जीवन की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

(११)

तीन बनिये कुछ पूँजी लेकर धन कमाने घर से निकले। उनमें से एक को लाभ हुआ; दूसरा अपनी मूल पूँजी ही ज्यों-की-त्यों बचा लाया—

(१२)

तीसरा अपनी गाँठ की पूँजी भी गवाँकर लौट आया। यह एक व्यावहारिक उपमा है; यही बात धर्म के सम्बन्ध में भी विचार लेनी चाहिए—

(१३)

मनुष्यत्व मूल है—अर्थात् मनुष्य से मनुष्य बननेवाला, मूल पूँजी को बचानेवाला है। देवजन्म पाना, लाभ उठाना है। और जो मनुष्य नरक तथा तिर्यक् गति को प्राप्त होता है, वह अपनी मूल पूँजी को भी गवाँ देनेवाला मूर्ख है।

(१४)

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य अधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन बिल्कुल निष्फल जाते हैं।

(१५)

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥१५॥

(१६)

जरा जाव न पीड़ेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥१६॥

(१७)

मरिहिसि रायं! जया तया वा,
मणोरमे कामगुणे विहाय।
एक्को वि धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥१७॥

(१५)

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात और दिन सफल हो जाते हैं।

(१६)

जबतक बुढ़ापा नहीं सताता, जबतक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जबतक इन्द्रियाँ हीन (अशक्त) नहीं होतीं, तबतक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए—बाद में कुछ नहीं होने का।

(१७)

हे राजन्! जब कभी इन मनोहर काम-भोगों को छोड़कर आप परलोक के यात्री बनेंगे, तब एकमात्र धर्म ही आपकी रक्षा करेगा। हे नरदेव! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं।

: ३ :

अहिंसा-सुत्तं

(१८)

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥१॥

(१९)

जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुवा थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे नो वि घायए ॥२॥

(२०)

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

(२१)

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥४॥

: ३ :

अहिंसा-सूत्र

(१८)

भगवान् महावीर ने अठारह धर्म-स्थानों में सबसे पहला स्थान अहिंसा का बतलाया है।

सब जीवों पर संयम रखना अहिंसा है; वह सब सुखों की देनेवाली मानी गई है।

(१९)

संसार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन सब को—क्या जान में, क्या अनजान में—न खुद मारे और न दूसरों से मरवाये।

(२०)

जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर को ही बढ़ाता है।

(२१)

संसार में रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवों पर मन से, वचन से और शरीर से,—किसी भी तरह दण्ड का प्रयोग न करे।

(२२)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥५॥

(२३)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥६॥

(२४)

पुढवी-जीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण-रुक्खा सबीयगा ॥७॥

(२५)

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई ॥८॥

(२६)

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मईमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे न हिंसया ॥९॥

(२२)

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ (जैन मुनि), घोर प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(२३)

भय और वैर से निवृत्त साधक, जीवन के प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियों को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करे।

(२४)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पतिकाय—ये सब जीव अतिसूक्ष्म हैं, ऊपर से एक आकार के दिखने पर भी सब का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है।

(२५)

उक्त पाँच स्थावरकाय के अतिरिक्त दूसरे त्रस प्राणी भी हैं। ये छहों षड्जीवनिकाय कहलाते हैं। जितने भी संसार में जीव हैं, सब इन्हीं छह के अन्तर्गत हैं। इन के सिवाय और कोई जीव-निकाय नहीं है।

(२६)

बुद्धिमान मनुष्य उक्त छहों जीव-निकायों का सब प्रकार की युक्तियों से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख से घबराते हैं'—ऐसा जानकर उन्हें दुःख न पहुँचाये।

(२७)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण ।
अहिंसा—समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया ॥१०॥

(२८)

संबुज्झमाणे उ नरे मईमं,
पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेरानुबन्धीणि महब्भयाणि ॥११॥

(२९)

समया सव्वभूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे ।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥१२॥

(२७)

ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। 'अहिंसा का सिद्धांत ही सर्वोपरि है'—मात्र इतना ही विज्ञान है।

(२८)

सम्यग् बोध को जिसने प्राप्त कर लिया ऐसा बुद्धिमान मनुष्य हिंसा से उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एवं महाभयंकर दुःखों को जानकर अपने को पापकर्म से बचाये।

(२९)

संसार में प्रत्येक प्राणी के प्रति—फिर भले ही वह शत्रु हो या मित्र—समभाव रखना, तथा जीवन-पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना—वास्तव में बड़ा ही दुष्कर है।

: ४ :

सच्च-सुत्तं

(३०)

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥१॥

(३१)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२॥

(३२)

मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥३॥

(३३)

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥४॥

: ४ :

सत्य-सूत्र

(३०)

सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

(३१)

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा भय से—किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवाये।

(३२)

मृषावाद (असत्य) संसार में सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अविश्वसनीय है; इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

(३३)

अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरों के लिए, दोनों में से किसी के भी लिए, पूछने पर पापयुक्त, निरर्थक एवं मर्मभेदक वचन नहीं बोलना चाहिए।

(३४)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥५॥

(३५)

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥६॥

(३६)

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥७॥

(३७)

सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ॥८॥

(३४)

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरों को दुःख पहुँ-चानेवाली वाणी न बोले।

श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य से भी पाप-कारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी पाप वचन नहीं बोलना चाहिए।

(३५)

आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असंदिग्ध, परि-पूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता-रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए।

(३६)

भाषा के गुण तथा दोषों को भली भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवों पर संयत रहनेवाला, तथा साधुत्व-पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान साधक एकमात्र हितकारी मधुर भाषा बोले।

(३७)

श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वयं जानकर अथवा गुरुजनों से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्म का उपदेश करे। जो आचरण निन्द्य हों, निदानवाले हों, उनका कभी सेवन न करे।

(३८)

सवक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥९॥

(३९)

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥१०॥

(४०)

वितहं वि तहामुत्ति, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥११॥

(४१)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१२॥

(३८)

विचारवान मुनि को वचनशुद्धि का भली भाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषों में महान् प्रशंसा प्राप्त होती है।

(३९)

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, फिर भी ऐसा नहीं कहना चाहिए। (क्योंकि इससे उन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है।)

(४०)

जो मनुष्य भूल से भी मूलतः असत्य, किंतु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, जब कि वह भी पाप से अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या?

(४१)

जो भाषा कठोर हो, दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य भी क्यों न हो—नहीं बोलनी चाहिए। क्योंकि इससे पाप का आस्रव होता है।

: ५ :

अतेणग-सुत्तं

(४२)

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥१॥

(४३)

तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥२॥

(४४)

उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा।
हत्थेहि पाएहि य संजमित्ता,
अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥३॥

(४५)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ॥४॥

: ५ :

अस्तेनक-सूत्र

(४२-४३)

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहु-मूल्य, और तो क्या, दाँत कुरेदने की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्णसंयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं, और न ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन ही करते हैं।

(४४)

ऊँची, नीची, और तिरछी दिशा में जहाँ कहीं भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हों उन्हें अपने हाथों से, पैरों से,—किसी भी अंग से पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए। और दूसरों की बिना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

(४५)

जो मनुष्य अपने सुख के लिए त्रस तथा स्थावर प्राणियों की क्रूरतापूर्वक हिंसा करता है—उन्हें अनेक तरह से कष्ट पहुँचाता है, जो दूसरों की चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतों का कुछ भी पालन नहीं करता, (वह भयंकर क्लेश उठाता है)।

(४६)

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं ॥५॥

(४६)

दाँत कुरेदने की सींक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये चोरी से न लेना, (बड़ी चीजों को चोरी से लेने की तो बात ही क्या ?) निर्दोष एवं एषणीय भोजन-पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ लेना, यह बड़ी दुष्कर बात है ।

: ६ :

बंभचरिय-सुत्तं

(४७)

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥१॥

(४८)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरन्ति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥२॥

(४९)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥३॥

(५०)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं ।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥४॥

: ६ :

ब्रह्मचर्य-सूत्र

(४७)

काम-भोगों का रस जान लेनेवाले के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारण करना, बड़ा ही कठिन कार्य है।

(४८)

जो मुनि संयम-घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमाद-स्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

(४९)

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषों का स्थान है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(५०)

आत्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृंगार, स्त्रियों का संसर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन—सब तालपुट विष के समान महान् भयंकर हैं।

(५१)

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगिय-पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥५॥

(५२)

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥६॥

(५३)

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥७॥

(५४)

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥८॥

(५१)

श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, काम-चेष्टा और कटाक्ष आदि का मन में तनिक भी विचार न लाये, और न इन्हें देखने का कभी प्रयत्न करे।

(५२)

स्त्रियों को रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना, आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुष को कदापि नहीं करने चाहिएँ। ब्रह्मचर्य व्रत में सदा रत रहने की इच्छा रखनेवाले पुरुषों के लिए यह नियम अत्यंत हितकर है, और उत्तम ध्यान प्राप्त करने में सहायक है।

(५३)

ब्रह्मचर्य में अनुरक्त भिक्षु को मन में वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोग की आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री-कथा को छोड़ देना चाहिए।

(५४)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों के साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

(५५)

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविय-पेहियं ।
बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥९॥

(५६)

कूइयं रुइयं गीयं, हसियं थणियकन्दियं ।
बंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए ॥१०॥

(५७)

हासं किड्डं रइं दप्पं, सहस्साऽवत्तासियाणि य ।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥११॥

(५८)

पणियं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥१२॥

(५९)

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं ।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया ॥१३॥

(५५)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को न तो स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों की सुन्दर आकृति की ओर ध्यान देना चाहिए, और न आँखों में विकार पैदा करनेवाले हावभावों और स्नेह-भरे मीठे वचनों की ही ओर।

(५६)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को स्त्रियों का कूजन (बोलना), रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण क्रन्दन—जिनके सुनने पर विकार पैदा होते हैं—सुनना छोड़ देना चाहिए।

(५७)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु स्त्रियों के पूर्वानुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प, सहसा-वित्रासन आदि कार्यों को कभी भी स्मरण न करे।

(५८)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टिकारी भोजन-पान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

(५९)

ब्रह्मचर्य-रत स्थिरचित्त भिक्षु को संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए हमेशा धर्मानुकूल विधि से प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिए। कैसी ही भूख क्यों न लगी हो, लालसावश अधिकमात्रा में कभी भी भोजन नहीं करना चाहिए।

(६०)

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥१४॥

(६१)

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं ।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥१५॥

(६२)

सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य ।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥१६॥

(६३)

दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥१७॥

(६४)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥१८॥

(६०)

जैसे बहुत ज्यादा ईंधनवाले जंगल में पवन से उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती, उसी तरह मर्यादा से अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती। अधिक भोजन किसी को भी हितकर नहीं होता।

(६१)

ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु को शरीर की शोभा और टीप-टाप का कोई भी शृंगार-सम्बन्धी काम नहीं करना चाहिए।

(६२)

ब्रह्मचारी भिक्षु को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणों को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

(६३)

स्थिरचित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगों को हमेशा के लिए छोड़ दे। इतना ही नहीं, जिनसे ब्रह्मचर्य में तनिक भी क्षति पहुँचने की संभावना हो, उन सब शंका-स्थानों का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए।

(६४)

देवताओं-सहित समस्त संसार के दुःख का मूल एकमात्र काम-भोगों की वासना ही है। जो साधक इस सम्बन्ध में वीत-राग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

(६५)

देवदाणवगन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति ते ॥१६॥

(६६)

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥२०॥

(६५)

जो मनुष्य इस भाँति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब नमस्कार करते हैं।

(६६)

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इसके द्वारा पूर्वकाल में कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।

: ७ :

अप्परिग्गह-सुत्तं

(६७)

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥१॥

(६८)

धण-धन्न-पेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं ।
सव्वारंभ-परिच्चाओ, निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥२॥

(६९)

बिड़मुब्भेइमं लोणं, तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्त-वओरया ॥३॥

(७०)

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेन्ति परिहरन्ति य ॥४॥

: ७ :

अपरिग्रह-सूत्र

(६७)

प्राणिमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है।

(६८)

पूर्णसंयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग करना होता है। समस्त पापकर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

(६९)

जो संयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनों में रत हैं, वे बिड़ और उद्भेद्य आदि नमक तथा तेल, घी, गुड़ आदि किसी भी वस्तु के संग्रह करने का मन में संकल्प तक नहीं लाते।

(७०)

परिग्रह विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल, और रजो-हरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एकमात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं—काम में लाते हैं। (इनके रखने में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं है।)

(७१)

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ॥५॥

(७२)

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही, पव्वइए न से ॥६॥

(७१)

ज्ञानी पुरुष, संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

(७२)

संग्रह करना, यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधु नहीं है।

: ८ :

अराइभोयण-सुत्तं

(७३)

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१॥

(७४)

सन्तिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ॥२॥

(७५)

उदउल्लं बीयसंसत्तं, पाणा निव्वडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ॥३॥

(७६)

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥४॥

: ८ :

अरात्रि-भोजन-सूत्र

(७३)

सूर्य के उदय होने से पहले और सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रन्थ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

(७४)

संसार में बहुत से त्रस और स्थावर प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं—वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते। तो रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है ?

(७५)

ज़मीन पर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते हैं, और कहींपर सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े आदि जीव होते हैं। दिन में तो उन्हें देख-भालकर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि में उनको बचाकर भोजन कैसे किया जा सकता है ?

(७६)

इस भाँति सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र ने कहा है कि निर्ग्रन्थ मुनि, रात्रि में किसी भी प्रकार का भोजन न करें।

(७७)

चउव्विहे वि आहारे, राईभोयण वज्जणा ।
सन्निही-संचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं ॥५॥

(७८)

पाणिवह-मुसावाया-ऽदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥६॥

(७७)

अन्न आदि चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि में सेवन नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरे दिन के लिए भी रात्रि में खाद्य सामग्री का संग्रह करना निषिद्ध है। अतः अरात्रिभोजन वास्तव में बड़ा दुष्कर है।

(७८)

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन—जो जीव इनसे विरत (पृथक्) रहता है, वह 'अनास्रव' (आत्मा में पापकर्म के प्रविष्ट होने के द्वार आस्रव कहलाते हैं, उनसे रहित, अनास्रव) हो जाता है।

: ९ :

विणय-सुत्तं

(७९)

मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुवेन्ति साहा।
साहा-प्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ य से पुप्फं फलं रसो य ॥१॥

(८०)

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

(८१)

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ।
थम्भा कोहा पमाएणं, रोगेणाऽऽलस्सएण य ॥३॥

: ९ :

विनय-सूत्र

(७९)

वृक्ष के मूल से सबसे पहले स्कन्ध पैदा होता है, स्कन्ध के बाद शाखाएँ और शाखाओं से दूसरी छोटी-छोटी शाखाएँ निकलती हैं। छोटी शाखाओं से पत्ते पैदा होते हैं। इसके बाद क्रमशः फूल, फल और रस उत्पन्न होते हैं।

(८०)

इसी भाँति धर्म का मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनय के द्वारा ही मनुष्य बड़ी जल्दी शास्त्र-ज्ञान तथा कीर्ति संपादन करता है। अन्त में, निश्रेयस (मोक्ष) भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है।

(८१)

इन पाँच कारणों से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता :—

अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, कुष्ठ आदि रोग से, और आलस्य से।

(८२-८३)

अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ।
अहस्सिरे सयादन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥४॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए ।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलि त्ति वुच्चइ ॥५॥

(८४)

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चइ ॥६॥

(८५-८८)

अह पन्नरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चइ ।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥७॥
अप्पं च अहिक्खिवई, पबन्धं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जइ ॥८॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पइ ।
अप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासइ ॥९॥
कलहडमरवज्जिए, बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चइ ॥१०॥

(८२-८३)

इन आठ कारणों से मनुष्य शिक्षाशील कहलाता है—

हर समय हँसनेवाला न हो; सतत इन्द्रिय-निग्रही हो; दूसरों के मर्म को भेदन करनेवाले वचन न बोलता हो; सुशील हो; दुराचारी न हो; रसलोलुप न हो; सत्य में रत हो; क्रोधी न हो—शान्त हो।

(८४)

जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास रहता है, उनके इंगितों तथा आकारों को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

(८५-८८)

नीचे के पन्द्रह कारणों से बुद्धिमान मनुष्य सुविनीत कहलाता है—

उद्धत न हो—नम्र हो; चपल न हो—स्थिर हो; मायावी न हो—सरल हो; कुतूहली न हो—गंभीर हो; किसीका तिरस्कार न करता हो; क्रोध को अधिक समय तक न रखता हो—शीघ्र ही शान्त हो जाता हो; अपने से मित्रता का व्यवहार रखनेवालों के प्रति पूरा सद्भाव रखता हो; शास्त्रों के अध्ययन का गर्व न करता हो; किसीके दोषों का भंडाफोड़ न करता हो; मित्रों पर क्रोधित न होता हो; अप्रिय मित्र की भी पीठ-पीछे भलाई ही करता हो; किसी प्रकार का झगड़ा-फसाद न करता हो: बुद्धिमान हो; अभिजात अर्थात् कुलीन हो; लज्जाशील हो; एकाग्र हो।

(८९)

आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥११॥

(९०-९२)

अभिक्खणं कोही हवइ, पबन्धं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जई ॥१२॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्साऽवि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥१३॥
पइण्णवादी दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चइ ॥१४॥

(९३)

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे,
तस्सन्तिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ,
काय-गिरा भो ! मणसा य निच्चं ॥१५॥

(८९)

जो गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता, जो उनके पास नहीं रहता, जो उनसे शत्रुता का बर्ताव रखता है, जो विवेकशून्य है, उसे अविनीत कहते हैं।

(९०-९२)

जो बार-बार क्रोध करता है, जिसका क्रोध शीघ्र ही शान्त नहीं होता; जो मित्रता रखनेवालों का भी तिरस्कार करता है; जो शास्त्र पढ़कर गर्व करता है; जो दूसरों के दोषों को ही उखेड़ता रहता है; जो अपने मित्रों पर भी क्रुद्ध हो जाता है, जो अपने प्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-पीछे बुराई करता है; जो मनमाना बोल उठता है—बकवादी है; जो स्नेही जनों से भी द्रोह रखता है; जो अहंकारी है; जो लोभी है, जो इन्द्रियनिग्रही नहीं, जो सबको अप्रिय है, वह अविनीत कहलाता है।

(९३)

शिष्य का कर्त्तव्य है कि जिस गुरु से धर्म-प्रवचन सीखे, उसकी निरन्तर विनय-भक्ति करे। मस्तक पर अंजलि चढ़ाकर गुरु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करे। जिस तरह भी हो सके उसी तरह मन से, वचन से और शरीर से हमेशा गुरु की सेवा करे।

(६४)

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,

गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।

सो चेव उ तस्स अभूइभावो,

फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१६॥

(६५)

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणीयस्स य।

जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥१७॥

(६४)

जो शिष्य अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के कारण गुरु की विनय (भक्ति) नहीं करता; वह इससे अभूति अर्थात् पतन को प्राप्त होता है। जैसे बाँस का फल उसके ही नाश के लिए होता है, उसी प्रकार अविनीत का ज्ञानबल भी उसीका सर्वनाश करता है।

(६५)

'अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है, और विनीत को सम्पत्ति' —ये दो बातें जिसने जान ली हैं, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

: १० :

चाउरंगिज्ज-सुत्तं

(९६)

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥१॥

(९७)

समावन्नाण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥२॥

(९८)

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छइ ॥३॥

(९९)

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडाल-बुक्कसो ।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥४॥

: १० :

चतुरङ्गीय-सूत्र

(९६)

संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अङ्गों (जीवन-विकास के साधन) का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है—

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

(९७)

संसार की मोह-माया में फँसी हुई मूर्ख प्रजा अनेक प्रकार के पापकर्म करके अनेक गोत्रोंवाली जातियों में जन्म लेती है। सारा विश्व इन जातियों से भरा हुआ है।

(९८)

जीव कभी देवलोक में, कभी नरकलोक में, और कभी असुर-लोक में जाता है। जैसे भी कर्म होते हैं, वहीं पहुँच जाता है।

(९९)

कभी तो वह क्षत्रिय होता है और कभी चाण्डाल, कभी वर्ण-संकर—बुक्कस, कभी कीड़ा, कभी पतंग, कभी कुंथुआ, तो कभी चींटी होता है।

(१००)

एवमावट्टजोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा।
न निब्विज्जन्ति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥५॥

(१०१)

कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो ॥६॥

(१०२)

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययन्ति मणुस्सयं ॥७॥

(१०३)

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खन्तिमहिंसयं ॥८॥

(१०४)

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥९॥

(१००)

पापकर्म करनेवाले प्राणी इस भाँति हमेशा बदलती रहनेवाली योनियों में बारंबार पैदा होते रहते हैं; किंतु इस दुःखपूर्ण संसार से कभी खिन्न नहीं होते जैसे दुःख पूर्ण राज्य से क्षत्रिय।

(१०१)

जो प्राणी काम-वासनाओं से विमूढ़ हैं, वे भयंकर दुःख तथा वेदना भोगते हुए चिरकाल तक मनुष्येतर योनियों में भटकते रहते हैं।

(१०२)

संसार में परिभ्रमण करते-करते जब कभी बहुत काल में पापकर्मों का वेग क्षीण होता है और उसके फलस्वरूप अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त होता है; तब कहीं मनुष्य-जन्म मिलता है।

(१०३)

मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी सद्धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे सुनकर मनुष्य तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

(१०४)

सौभाग्य से यदि कभी धर्म का श्रवण प्राप्त भी हो जाता है, तो उस पर श्रद्धा का होना तो अत्यन्त दुर्लभ है। कारण कि बहुत-से लोग न्यायमार्ग को—सत्य-सिद्धांत को सुनकर भी उससे दूर ही रहते हैं—उसपर विश्वास नहीं लाते।

(१०५)

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं ।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए ॥१०॥

(१०६)

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे ।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं ॥११॥

(१०७)

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व पावए ॥१२॥

(१०८)

विगिंच कम्मणो हेउं, जसं संचिणु खन्तिए ।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥१३॥

(१०५)

सद्धर्म का श्रवण और उसपर श्रद्धा—दोनों प्राप्त कर लेने पर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना, यह तो और भी कठिन है। क्योंकि संसार में बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो सद्धर्म पर दृढ़ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरण में नहीं लाते।

(१०६)

परन्तु जो तपस्वी मनुष्यत्व को पाकर, सद्धर्म का श्रवण कर, उसपर श्रद्धा लाता है और तदनुसार पुरुषार्थ कर आस्रवरहित हो जाता है, वह अन्तरात्मा पर से कर्मरज को झटक देता है।

(१०७)

जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है। और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसीके पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

(१०८)

कर्मों के पैदा करनेवाले कारणों को ढूँढ़ो—उनका छेद करो, और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का संचय करो। ऐसा करनेवाला मनुष्य इस पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्व-दिशा को प्राप्त करता है—अर्थात् उच्च और श्रेष्ठगति पाता है।

(१०६)

चउरंगं दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए ॥१४॥

(१०६)

जो मनुष्य उक्त चार अंगों को दुर्लभ जानकर संयम-मार्ग स्वीकार करता है, वह तप के द्वारा सब कर्मांशों का नाश कर सदा के लिए सिद्ध हो जाता है।

: ११ :

अप्पमाय-सुत्तं

(११०)

असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिन्ति ॥१॥

(१११)

जे पावकम्मेहि धणं मणुस्सा,
समाययन्ति अमयं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ॥२॥

(११२)

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्थ ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥३॥

: ११ :

अप्रमाद-सूत्र

(११०)

जीवन असंस्कृत है—अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ता; अतः एक क्षण भी प्रमाद न करो।

'प्रमाद, हिंसा और असंयम में अमूल्य यौवन-काल बिता देने के बाद जब वृद्धावस्था आयेगी, तब तुम्हारी कौन रक्षा करेगा —तब किसकी शरण लोगे ?' यह खूब सोच-विचार लो।

(१११)

जो मनुष्य अनेक पापकर्म कर, वैर-विरोध बढ़ाकर, अमृत की तरह धन का संग्रह करते हैं, वे अन्त में कर्मों के दृढ़ पाश में बँधे हुए सारी धन-सम्पत्ति यहीं छोड़कर नरक को प्राप्त होते हैं।

(११२)

प्रमत्त पुरुष धन के द्वारा न तो इस लोक में ही अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में ! फिर भी धन के असीम मोह से मूढ़ मनुष्य दीपक के बुझ जाने पर जैसे मार्ग नहीं दीख पड़ता, वैसे ही न्याय-मार्ग को देखते हुए भी नहीं देख पाता है।

(११३)

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥४॥

(११४)

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ॥५॥

(११५)

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ॥६॥

(११६)

चरे पयाइं परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।

(११३)

जैसे चोर सेंध के द्वार पर पकड़ा जाकर अपने ही दुष्कर्म के कारण चीरा जाता है, वैसे ही पाप करनेवाला प्राणी भी इस लोक में तथा परलोक में—दोनों ही जगह—भयंकर दुःख पाता है। क्योंकि कृत कर्मों को भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

(११४)

संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे-से-बुरे भी पाप-कर्म कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है तब अकेला ही दुःख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दुःख बँटानेवाला—सहायता पहुँचानेवाला नहीं होता।

(११५)

आशुप्रज्ञ पंडित पुरुष को मोहनिद्रा में सोते रहनेवाले संसारी मनुष्यों के बीच रहकर भी सब ओर से जागरूक रहना चाहिए, किसीका विश्वास नहीं करना चाहिए। 'काल निर्दय है और शरीर निर्बल' यह जानकर भारंड पक्षी की तरह हमेशा अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए।

(११६)

संसार में जो कुछ धन जन आदि पदार्थ हैं, उन सबको पाश-रूप जानकर मुमुक्षु बड़ी सावधानी के साथ फूंक-फूंककर पाँव रखे। जबतक शरीर सशक्त है, तबतक उसका उपयोग अधिक-

लाभन्तरे जीवियं वूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥७॥

(११७)

छन्दंनिरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्ते,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ॥८॥

(११८)

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयम्मि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥९॥

(११९)

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।

से-अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेना चाहिए। बाद में जब वह बिल्कुल ही अशक्त हो जाये, तब बिना किसी मोह-ममता के मिट्टी के ढेले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

(११७)

जैसे शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार विवेकी मुमुक्ष भी जीवन-संग्राम में विजयी बनकर मोक्ष प्राप्त करता है। जो मुनि दीर्घकाल तक अप्रमत्तरूप से संयम-धर्म का आचरण करता है, वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष-पद पाता है।

(११८)

शाश्वतवादी लोग कल्पना बाँधा करते हैं कि 'सत्कर्म-साधना की अभी क्या जल्दी है, आगे कर लेंगे?' परन्तु यों करते-करते भोग-विलास में ही उनका जीवन समाप्त हो जाता है, और एक दिन मृत्यु सामने आ खड़ी होती है, शरीर नष्ट हो जाता है। अन्तिम समय में कुछ भी नहीं बन पाता; उस समय तो मूर्ख मनुष्य के भाग्य में केवल पछताना ही शेष रहता है।

(११९)

आत्म-विवेक कुछ झटपट प्राप्त नहीं किया जाता—इसके लिए तो भारी साधना की आवश्यकता है। महर्षि जनों को बहुत पहले से ही संयम-पथ पर दृढ़ता के साथ खड़े होकर, काम-भोगों का

समिच्च लोयं समया महेसी,
आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ॥१०॥

(१२०)

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं,
अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च,
न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से ॥११॥

(१२१)

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा,
तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं,
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥१२॥

(१२२)

जे संखया तुच्छ परप्पवाई,
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो,
कंखे गुणे जाव सरीरभेए ॥१३॥

परित्याग कर, समतापूर्वक स्वार्थी संसार की वास्तविकता को समझ-कर, अपनी आत्मा की पापों से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादी रूप से विचरना चाहिए।

(१२०)

मोह-गुणों के साथ निरन्तर युद्ध करके विजय प्राप्त करने-वाले श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्शों का भी बहुत बार सामना करना पड़ता है। परन्तु भिक्षु उनपर तनिक भी अपने मन को क्षुब्ध न करे—शान्त भाव में अपने लक्ष्य की ओर ही अग्रसर होता रहे।

(१२१)

संयम-जीवन में मन्दता पैदा करनेवाले काम-भोग बहुत ही लुभावने मालूम होते हैं। परंतु संयमी पुरुष उनकी ओर अपने मन को कभी आकृष्ट न होने दे। आत्मशोधक साधक का कर्त्तव्य है कि वह क्रोध को दबाए, अहंकार को दूर करे, माया का सेवन न करे, और लोभ को छोड़ दे।

(१२२)

जो मनुष्य संस्कारहीन हैं, तुच्छ हैं, दूसरों की निन्दा करने-वाले हैं, राग-द्वेष से युक्त हैं, वे सब अधर्माचरणवाले हैं—इस प्रकार विचारपूर्वक दुर्गुणों से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-नाश पर्यन्त (जीवन-पर्यन्त) एकमात्र सद्गुणों की ही कामना करता रहे।

: ११–२ :

अप्पमाय-सुत्तं

(१२३)

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

(१२४)

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

(१२५)

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरेकडं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

(१२६)

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व-पाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

: ११-२ :

अप्रमाद-सूत्र

(१२३)

जैसे वृक्ष का पत्ता पतझड़ ऋतुकालिक रात्रि-समूह के बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२४)

जैसे ओस की बूंद कुशा की नोक पर थोड़ी देरतक ही ठहरी रहती है, उसी तरह मनुष्यों का जीवन भी बहुत अल्प है—शीघ्र ही नाश हो जा रेवाला है। इसलिए हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२५)

अनेक प्रकार के विघ्नों से युक्त अत्यंत अल्प आयुवाले इस मानव-जीवन में पूर्व संचित कर्मों की धूल को पूरी तरह झटक दे। इसके लिए हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२६)

दीर्घकाल के बाद भी प्राणियों को मनुष्य-जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है, क्योंकि कृत कर्मों के विपाक अत्यन्त प्रगाढ़ होते हैं। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२७)

पुढविकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

(१२८)

आउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

(१२९)

तेउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥

(१३०)

वाउकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

(१३१)

वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालमणन्तदुरन्तयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

(१३२)

बेइन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसण्णियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

(१२७)

यह जीव पृथिवी-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२८)

यह जीव जल-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१२९)

यह जीव तेजस्काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३०)

यह जीव वायु-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३१)

यह जीव वनस्पति-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट अनन्त काल तक—जिसका बड़ी कठिनता से अन्त होता है—रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३२)

यह जीव द्वीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्येय काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३३)

तेइन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

(१३४)

चउरिन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसन्नियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१२॥

(१३५)

पंचिन्दियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवगहणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

(१३६)

एवं भवसंसारे संसरइ, सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

(१३७)

लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरियत्तं पुणरावि दुल्लभं ।
बहवे दस्सुया मिलक्खुया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

(१३३)

यह जीव त्रीन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३४)

यह जीव चतुरिन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट संख्यात काल तक रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३५)

यह जीव पंचेन्द्रिय-काय में गया और वहाँ उत्कृष्ट सात तथा आठ जन्मतक निरन्तर रहा। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३६)

प्रमाद-बहुल जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण इस भाँति अनन्त बार भव-चक्र में इधर से उधर घूमा करता है। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३७)

मनुष्य-जन्म पा लिया तो क्या? आर्यत्व का मिलना बड़ा कठिन है। बहुत-से-जीव मनुष्यत्व पाकर भी दस्यु और म्लेच्छ जातियों में जन्म लेते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३८)

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीणपंचिन्दिया हु दुल्लहा ।
विगलिन्दियया हु दीसई, समयं ! गोयम मा पमायए ॥१६॥

(१३९)

अहीणपंचेन्दियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

(१४०)

लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

(१४१)

धम्मं पि हु सद्दहन्तया, दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

(१४२)

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

(१३८)

आर्यत्व पाकर भी पाँचों इन्द्रियों को परिपूर्ण पाना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग आर्य-क्षेत्र में जन्म लेकर भी विकल इन्द्रियों-वाले देखे जाते हैं। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१३९)

पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण पाकर भी उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त होना कठिन है। बहुत-से लोग पाखंडी गुरुओं की सेवा किया करते हैं। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४०)

उत्तम धर्म का श्रवण पाकर भी उसपर श्रद्धा का होना बड़ा कठिन है। बहुत-से लोग सब कुछ जान-बूझकर भी मिथ्यात्व की उपासना में ही लगे रहते हैं। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४१)

धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना बड़ा कठिन है। संसार में बहुत-से धर्मश्रद्धालु मनुष्य भी काम-भोगों में मूर्छित रहते हैं। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४२)

तेरा शरीर दिन प्रति दिन जीर्ण होता जा रहा है, सिर के बाल पककर श्वेत होने लगे हैं, अधिक क्या—शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का बल घटता जा रहा है। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४३)

अरई गण्डं विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए
॥२१॥

(१४४)

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

(१४५)

चिच्चाण धणं च भारियं, पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वन्तं पुणो वि आविए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

(१४६)

उवउज्झिय मित्तबन्धवं, विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं बिइयं गवेसए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

(१४३)

अरुचि, फोड़ा, विसूचिका (हैजा), आदि अनेक प्रकार के रोग शरीर में बढ़ते जा रहे हैं; इनके कारण तेरा शरीर बिल्कुल क्षीण तथा ध्वस्त हो रहा है। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४४)

जैसे कमल शरत्काल के निर्मल जल को भी नहीं छूता—अलग अलिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी संसार से अपनी समस्त आसक्तियाँ दूर कर, सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों से रहित हो जा। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४५)

स्त्री और धन का परित्याग करके तू महान् अनागार पद को पा चुका है, इसलिए अब फिर इन वमन की हुई वस्तुओं का पान न कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४६)

विपुल धनराशि तथा मित्र-बान्धवों को एकबार स्वेच्छा-पूर्वक छोड़कर, अब फिर दोबारा उनकी गवेषणा (पूछताछ) न कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४७)

अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

(१४८)

तिण्णो सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

(१४९)

बुद्धस्स निसम्म भासियं, सुकहियमट्ठपओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगइं गए गोयमे ॥२७॥

(१४७)

घुमावदार विषम मार्ग को छोड़कर तू सीधे और साफ़ मार्ग पर चल। विषम मार्ग पर चलनेवाले निर्बल भार-वाहक की तरह बाद में पछतानेवाला न बन। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४८)

तू विशाल संसार-समुद्र को तैर चुका है, अब भला किनारे आकर क्यों अटक रहा है ? उस पार पहुँचने के लिए जितनी भी हो सके शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

(१४९)

भगवान् महावीर के इस भाँति अर्थयुक्त पदोंवाले सुभाषित वचनों को सुनकर श्री गौतम स्वामी राग तथा द्वेष का छेदन कर सिद्धि-गति को प्राप्त हो गये।

: १२ :

पमायट्ठाण-सुत्तं

(१५०)

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥१॥

(१५१)

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥२॥

(१५२)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ॥३॥

(१५३)

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।

: १२ :

प्रमाद-स्थान-सूत्र

(१५०)

प्रमाद को कर्म कहा है और अप्रमाद को अकर्म—अर्थात् जो प्रवृत्तियाँ प्रमादयुक्त हैं वे कर्म-बन्धन करनेवाली हैं, और जो प्रवृत्तियाँ प्रमाद से रहित हैं वे कर्म-बन्धन नहीं करतीं। प्रमाद के होने और न होने से ही मनुष्य क्रमशः मूर्ख और पंडित कहलाता है।

(१५१)

जिस प्रकार बगुली अंडे से पैदा होती है और अंडा बगुली से पैदा होता है, उसी प्रकार मोह का उत्पत्ति-स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति-स्थान मोह है।

(१५२)

राग और द्वेष—दोनों कर्म के बीज हैं—अतः कर्म का उत्पादक मोह ही माना गया है। कर्मसिद्धान्त के अनुभवी लोग कहते हैं कि संसार में जन्म-मरण का मूल कर्म है, और जन्म-मरण—यही एकमात्र दुःख है।

(१५३)

जिसे मोह नहीं है उसका दुःख चला गया; जिसे तृष्णा नहीं उसका मोह चला गया; जिसे लोभ नहीं है, उसकी तृष्णा चली गई;

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥४॥

(१५४)

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥५॥

(१५५)

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥६॥

(१५६)

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कुत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेस-दुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥७॥

जिसके पास लोभ करने-जैसा कुछ भी पदार्थ-संग्रह नहीं है, उसका लोभ चला गया।

(१५४)

दूध और दही आदि रसों का अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि प्रायः रस मनुष्यों में मादकता पैदा करते हैं। मत्त मनुष्य की ओर काम-वासनाएँ वैसे ही दौड़ी आती हैं, जैसे स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष की ओर पक्षी।

(१५५)

जो मूर्ख मनुष्य सुन्दर रूप के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल ही नष्ट हो जाता है। रागातुर व्यक्ति रूप-दर्शन की लालसा में वैसे ही मृत्यु को प्राप्त होता है, जैसे दीये की ज्योति देखने की लालसा में पतंग।

(१५६)

रूप में आसक्त मनुष्य को कहीं से भी कभी किंचिन्मात्र भी सुख नहीं मिल सकता। खेद है कि जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य महान् कष्ट उठाता है, उसके उपभोग में कुछ भी सुख न पाकर केवल क्लेश तथा दुःख ही पाता है।

(१५७)

एमेव रूवम्मि गश्रो पश्रोसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराश्रो ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥८॥

(१५८)

रूवे विरत्तो मणुश्रो विसोगो,
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥६॥

(१५६)

एविन्दियत्था य मणस्स श्रत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि ॥१०॥

(१६०)

न कामभोगा समयं उवेन्ति,
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति ।
जे तप्पश्रोसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥११॥

(१५७)

जो मनुष्य कुत्सित रूपों के प्रति द्वेष रखता है, वह भविष्य में असीम दुःख-परंपरा का भागी होता है। प्रदुष्टचित्त द्वारा ऐसे पापकर्म संचित किये जाते हैं, जो विपाक-काल में भयंकर दुःख-रूप होते हैं।

(१५८)

रूप से विरक्त मनुष्य ही वास्तव में शोक-रहित है। वह संसार में रहते हुए भी दुःख-प्रवाह से वैसे ही अलिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से।

(१५९)

रागी मनुष्य के लिए ही उपर्युक्त इन्द्रियों तथा मन के विषय-भोग इस प्रकार दुःख के कारण होते हैं। परन्तु वे ही वीतरागी को किसी भी प्रकार से कभी तनिक भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

(१६०)

काम-भोग अपने-आप तो न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं और न किसी में रागद्वेषरूप विकृति पैदा करते हैं। परन्तु मनुष्य स्वयं ही उनके प्रति राग-द्वेष के नाना संकल्प बनाकर मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

(१६१)

अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
वियाहिओ जं समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥१२॥

(१६१)

अनादि काल से उत्पन्न होते रहनेवाले सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों से छुट जाने का यह मार्ग ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है। जो प्राणी उक्त मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे क्रमशः मोक्ष-धाम प्राप्त कर अत्यन्त सुखी होते हैं।

: १३ :

कसाय-सुत्तं

(१६२)

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

(१६३)

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥२॥

(१६४)

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३॥

(१६५)

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥४॥

: १३ :

कषाय-सूत्र

(१६२)

अनिगृहीत क्रोध और मान, तथा प्रवर्द्धमान (बढ़ते हुए) माया और लोभ—ये चारों ही कुत्सित कषाय पुनर्जन्मरूपी संसार-वृक्ष की जड़ों को सींचते हैं।

(१६३)

जो मनुष्य अपना हित चाहता है, वह पाप को बढ़ानेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार दोषों को सदा के लिए छोड़ दे।

(१६४)

क्रोध प्रीति का नाश करता है; मान विनय का नाश करता है; माया मित्रता का नाश करती है; और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है।

(१६५)

शान्ति से क्रोध को मारे; नम्रता से अभिमान को जीते; सरलता से माया का नाश करे; और सन्तोष से लोभ को क़ाबू में लाये।

(१६६)

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

(१६७)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥६॥

(१६८)

अहे वयन्ति कोहेण, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोहाओ दुहओ भयं ॥७॥

(१६९)

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥८॥

(१७०)

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥९॥

(१६६)

अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थों से परिपूर्ण यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक मनुष्य को दे दिया जाये, तब भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा। अहो! मनुष्य की यह तृष्णा बड़ी दुष्पूर है!

(१६७)

ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। देखो न, पहले केवल दो मासे सुवर्ण की आवश्यकता थी; पर बाद में वह करोड़ों से भी पूरी न हो सकी।

(१६८)

क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है, अभिमान से अधम गति को पहुँचता है, माया से सद्गति का नाश होता है, और लोभ से इस लोक तथा परलोक में महान् भय है।

(१६९)

चाँदी और सोने के कैलास के समान विशाल असंख्य पर्वत भी यदि पास में हों, तो भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए वे कुछ भी नहीं। कारण कि तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

(१७०)

चावल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओं से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है—यह जानकर संयम का ही आचरण करना चाहिए।

(१७१)

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एयाणि वन्ता अरहा महेसी,
न कुव्वई पावं न कारवेई ॥१०॥

(१७१)

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं। इनका पूर्ण रूप से परित्याग करनेवाले अर्हन्त महर्षि न स्वयं पाप करते हैं, और न दूसरों से करवाते हैं।

: १४ :

काम-सुत्तं

(१७२)

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दोग्गइं ॥१॥

(१७३)

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२॥

(१७४)

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥३॥

(१७५)

जहा किंपागफलाण, परिणामो न सुंदरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥४॥

: १४ :

काम-सूत्र

(१७२)

काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं, और विषधर सर्प के समान हैं। काम-भोगों की लालसा रखनेवाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना ही अतृप्त दशा में एक दिन दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

(१७३)

गीत सब विलापरूप हैं; नाटच सब विडम्बनारूप हैं; आभरण सब भाररूप हैं। अधिक क्या, संसार के जो भी काम-भोग हैं, सब-के-सब दुःखावह हैं।

(१७४)

काम-भोग क्षणमात्र सुख देनेवाले हैं और चिरकाल तक दुःख देनेवाले हैं। उनमें सुख बहुत थोड़ा है, अत्यधिक दुःख-ही-दुःख है। मोक्ष-सुख के वे भयंकर शत्रु हैं, अनर्थों की खान हैं।

(१७५)

जैसे किंपाक फलों का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

(१७६)

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुंजमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एसोवमा कामगुणा विवागे ॥५॥

(१७७)

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥६॥

(१७८)

चीराजिणं नगिणिणं, जड़ी संघाडि मुंडिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥७॥

(१७९)

जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा काय वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥८॥

(१८०)

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।

(१७६)

जैसे किंपाक फल रूप-रंग और रस की दृष्टि से शुरू में खाते समय तो बड़े अच्छे मालूम होते हैं, पर बाद में जीवन के नाशक हैं; वैसे ही कामभोग भी शुरू में तो बड़े मनोहर लगते हैं, पर विपाक-काल में सर्वनाश कर देते हैं।

(१७७)

जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है; अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण किया करता है, और अभोगी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

(१७८)

मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका (बौद्ध भिक्षुओं का सा उत्तरीय वस्त्र), और मुण्डन आदि कोई भी धर्मचिह्न दुःशील भिक्षु की रक्षा नहीं कर सकते।

(१७९)

जो अविवेकी मनुष्य मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण तथा रूप में आसक्त रहते हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

(१८०)

काल बड़ी द्रुति गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सभी रात्रियाँ बीतती जा रही हैं, फल-स्वरूप काम-भोग चिरस्थायी

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥९॥

(१८१)

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया ।
विणिअट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ॥१०॥

(१८२)

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥११॥

(१८३)

संबुज्झह ! किं न बुज्झह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१२॥

(१८४)

दुप्परिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥१३॥

नहीं है। भोग-विलास के साधनों से रहित पुरुष को लोग वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे क्षीणफल वृक्ष को पक्षी।

(१८१)

मानव-जीवन नश्वर है, उसमें भी अपनी आयु तो बहुत ही परिमित है, एकमात्र मोक्ष-मार्ग ही अविचल है, यह जानकर काम-भोगों से निवृत्त हो जाना चाहिए।

(१८२)

हे पुरुष ! मनुष्यों का जीवन अत्यन्त अल्प है—क्षणभंगुर है, अतः शीघ्र ही पापकर्म से निवृत्त हो जा। संसार में आसक्त तथा काम-भोगों से मूर्च्छित असंयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

(१८३)

समझो, इतना क्यों नहीं समझते ? परलोक में सम्यक् बोधि का प्राप्त होना बड़ा कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौटकर नहीं आतीं। मनुष्य-जीवन का दोबारा पाना आसान नहीं।

(१८४)

काम-भोग बड़ी मुश्किल से छूटते हैं, अधीर पुरुष तो इन्हें सहसा छोड़ ही नहीं सकते। परन्तु जो महाव्रतों-जैसे सुन्दर व्रतों के पालन करनेवाले साधुपुरुष हैं, वे ही दुस्तर भोग-समुद्र को तैरकर पार होते हैं, जैसे—व्यापारी वणिक समुद्र को।

: १५ :

असरण-सुत्तं

(१८५)

वित्तं पसवो न नाइओ, तं बाले सरणं ति मन्नई ।
एए मम तेसु वि अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१॥

(१८६)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तुणो ॥२॥

(१८७)

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥३॥

(१८८)

दाराणि सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुवयन्ति य ॥४॥

: १५ :

अशरण-सूत्र

(१८५)

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि—'ये मेरे हैं' और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु इनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरण का देनेवाला नहीं।

(१८६)

जन्म का दुःख है, जरा (बुढ़ापा) का दुःख है, रोग और मरण का दुःख है। अहो! संसार दुःखरूप ही है! यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक प्राणी जब देखो तब क्लेश ही पाता रहता है।

(१८७)

यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है, दुःख और क्लेशों का धाम है। जीवात्मा का इसमें कुछ ही क्षणों के लिए निवास है, आखिर एक दिन तो अचानक छोड़कर चले ही जाना है।

(१८८)

स्त्री, पुत्र, मित्र और बन्धुजन सब कोई जीते जी के ही साथी हैं, मरने पर कोई भी पीछे नहीं आता।

(१८९)

वेया अहीया न भवन्ति ताणं,
भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥५॥

(१९०)

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धण-धन्नं च सव्वं।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥६॥

(१९१)

जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवन्ति ॥७॥

(१९२)

जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहई, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥८॥

(१८९)

पढ़े हुए वेद बचा नहीं सकते; जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार में ही ले जाते हैं; तथा स्त्री और पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते, तो ऐसी दशा में कौन विवेकी पुरुष इन्हें स्वीकार करेगा ?

(१९०)

द्विपद (दास, दासी आदि मनुष्य), चतुष्पद, क्षेत्र, गृह और धन-धान्य सब कुछ छोड़कर विवशता की दशा में प्राणी अपने कृत कर्मों के साथ अच्छे या बुरे परभव में चला जाता है।

(१९१)

जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है, उसी तरह अंतसमय मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते—पर-लोक में उसके साथ नहीं जाते।

(१९२)

संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब अपने कृत कर्मों के कारण ही दुखी होते हैं। अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म है, उसका फल भोगे बिना कभी छुटकारा नहीं हो सकता।

(१६३)

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुयसंनिभे ॥९॥

(१६४)

माणुसत्ते असारम्मि, वाहि-रोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥१०॥

(१६५)

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसि रायं ! पेच्चत्थं नावबुज्झसि ॥११॥

(१६६)

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥१२॥

(१९३)

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, पहले या पीछे एक दिन इसे छोड़ना ही है, अतः इसके प्रति मुझे तनिक भी प्रीति (आसक्ति) नहीं है।

(१९४)

मानव-शरीर असार है, आधि-व्याधियों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है; अतः मैं इसकी ओर से क्षणभर भी प्रसन्न नहीं होता हूँ।

(१९५)

मनुष्य का जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है! आश्चर्य है, हे राजन्, तुम इसपर मुग्ध हो रहे हो! क्यों नहीं परलोक की ओर का खयाल करते हो?

(१९६)

पापी जीव के दुःख को न जातिवाले बँटा सकते हैं, न मित्र-वर्ग, न पुत्र, और न भाई-बन्धु। जब कभी दुःख आकर पड़ता है, तब वह स्वयं अकेला ही उसे भोगता है। क्योंकि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसीके नहीं।

: १६ :

बाल-सुत्तं

(१९७)

भोगामिसदोसविसण्णे, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥१॥

(१९८)

जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥२॥

(१९९)

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥३॥

(२००)

जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥४॥

: १६ :

बाल-सूत्र

(१९७)

जो बाल—मूर्ख मनुष्य काम-भोगों के मोहक दोषों में आसक्त हैं, हित तथा निश्रेयस के विचार से शून्य हैं, वे मन्दबुद्धि मूढ़ संसार में वैसे ही फँस जाते हैं, जैसे मक्खी श्लेष्म (कफ) में।

(१९८)

जो मनुष्य काम-भोगों में आसक्त होते हैं, वे बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डालते हैं। ऐसे लोगों की मान्यता होती है कि—"परलोक हमने देखा नहीं है, और यह विद्यमान काम-भोगों का आनन्द तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है।"

(१९९)

"वर्तमान काल के काम-भोग हाथ में आये हुए हैं—पूर्णतया स्वाधीन हैं। भविष्यकाल में परलोक के सुखों का क्या ठीक—मिलें या न मिलें? और यह भी कौन जानता है कि, परलोक है भी या नहीं?"

(२००)

"मैं तो सामान्य लोगों के साथ रहूँगा—अर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायेगी"—मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धृष्टता-भरी बातें किया करते हैं और काम-भोगों की आसक्ति के कारण अन्त में महान् क्लेश पाते हैं।

(२०१)

तम्रो से दंडं समारभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई ॥५॥

(२०२)

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥६॥

(२०३)

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहम्रो मलं संचिणइ, सिसुनागु व्व मट्टियं ॥७॥

(२०४)

तम्रो पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीम्रो परलोगस्स, कम्माणुप्पेही अप्पणो ॥८॥

(२०५)

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करेन्ति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमसिन्धयारे,
तिव्वाभितावे नरगे पडन्ति ॥६॥

(२०१)

मूर्ख मनुष्य विषयासक्त होते ही त्रस तथा स्थावर जीवों को सताना शुरू कर देता है, और अन्ततक मतलब-बेमतलब प्राणिसमूह की हिंसा करता ही रहता है।

(२०२)

मूर्ख मनुष्य हिंसक, असत्यभाषी, मायावी, चुगलखोर और धूर्त होता है। वह मांस तथा मद्य के खाने-पीने में ही अपना श्रेय समझता है।

(२०३)

जो मनुष्य शरीर तथा वचन के बल पर मदान्ध है, धन तथा स्त्री जन में आसक्त है, वह राग और द्वेष दोनों के द्वारा वैसे ही कर्म-मल का संचय करता है, जैसे अलसिया मिट्टी का।

(२०४)

पाप-कर्मों के फलस्वरूप जब मनुष्य अन्तिम समय में असाध्य रोगों से पीड़ित होता है, तब वह खिन्नचित्त होकर अन्दर-ही अन्दर पछताता है, और अपने पूर्वकृत पाप-कर्मों को याद कर-कर परलोक की बिभीषिका से काँप उठता है।

(२०५)

जो मूर्ख मनुष्य अपने तुच्छ जीवन के लिए निर्दय होकर पाप-कर्म करते हैं, वे महाभयंकर प्रगाढ़ अन्धकाराच्छन्न एवं तीव्र ताप-वाले तमिस्र नरक में जाकर पड़ते हैं।

(२०६)

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झई ॥१०॥

(२०७)

निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंऽते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ॥११॥

(२०८)

जे केइ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पिच्चा सुहं सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चइ ॥१२॥

(२०९)

वेराइं कुव्वइ वेरी, तओ वेरेहिं रज्जइ ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥१३॥

(२१०)

मासे मासे तु जो बाले, कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥१४॥

(२०६)

अनार्य मनुष्य काम-भोगों के लिए जब धर्म को छोड़ता है, तब वह भोग-विलास में मूर्च्छित रहनेवाला मूर्ख अपने भयंकर भविष्य को नहीं जानता।

(२०७)

जिस तरह हमेशा भयभ्रान्त रहनेवाला चोर अपने ही दुष्कर्मों के कारण दुःख उठाता है, उसी तरह मूर्ख मनुष्य भी अपने दुराचरणों के कारण दुःख पाता है, और वह अंतकाल में भी संवर धर्म की आराधना नहीं कर सकता।

(२०८)

जो भिक्षु प्रव्रज्या लेकर भी अत्यन्त निद्राशील हो जाता है, खा-पीकर मजे से सो जाया करता है, वह 'पाप-श्रमण' कहलाता है।

(२०९)

वैर रखनेवाला मनुष्य हमेशा वैर ही किया करता है, वह वैर में ही आनन्द पाता है। हिंसाकर्म पाप को उत्पन्न करनेवाले हैं, अन्त में दुःख पहुँचानेवाले हैं।

(२१०)

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेभर का घोर तप करे और पारण के दिन केवल कुशा की नोक से भोजन करे, तो भी वह सत्पुरुषों के बताये धर्म का आचरण करनेवाले मनुष्य के सोलहवें हिस्से को भी नहीं पहुँच सकता।

(२११)

इह जीवियं अनियमित्ता, पब्भट्ठा समाहि-जोगेहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काये ॥१५॥

(२१२)

जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥१६॥

(२१३)

बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥१७॥

(२१४)

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जइ ॥१८॥

(२१५)

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥१९॥

(२११)

जो मनुष्य अपने जीवन को अनियंत्रित (उच्छृङ्खल) रखने के कारण यहाँ समाधि-योग से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे काम-भोगों में आसक्त होकर अन्त में असुरयोनि में उत्पन्न होते हैं।

(२१२)

संसार में जितने भी अविद्वान् (मूर्ख) पुरुष हैं, वे सब दुःख भोगनेवाले हैं। मूढ़ प्राणी अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते रहते हैं—जन्मते और मरते रहते हैं।

(२१३)

मूर्ख जीवों का अकाम मरण संसार में बार-बार हुआ करता है; परन्तु पंडित पुरुषों का सकाम मरण केवल एक बार ही होता है—वे पुनर्जन्म नहीं पाते।

(२१४)

मूर्ख मनुष्य की मूर्खता तो देखो, जो धर्म को छोड़कर, अधर्म को स्वीकार कर अधर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त में नरक-गति को प्राप्त होता है।

(२१५)

सत्य-धर्म के अनुगामी धीर पुरुष की धीरता देखो, जो अधर्म का परित्याग कर धर्मिष्ठ हो जाता है, और अन्त में देवलोक में उत्पन्न होता है।

(२१६)

तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पंडिए ।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवई मुणी ॥२०॥

(२१६)

विद्वान्, मुनि, बाल-भाव और अबाल-भाव का इस प्रकार तुलनात्मक विचार कर बाल-भाव को छोड़ दे, और अबाल-भाव को ही स्वीकार करे।

: १७ :

पंडिय-सुत्तं

(२१७)

समिक्ख पंडिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥१॥

(२१८)

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई ॥२॥

(२१९)

वत्थगन्धमलंकारं, इत्थिओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चई ॥३॥

(२२०)

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते अत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं,
बुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥४॥

: १७ :

पण्डित-सूत्र

(२१७)

पण्डित पुरुष को चाहिए कि वह संसार-भ्रमण के कारणरूप दुष्कर्म-पाशों का भली भाँति विचार कर अपने-आप स्वतन्त्ररूप से सत्य की खोज करे, और सब जीवों पर मैत्रीभाव रखे।

(२१८)

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर भी पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

(२१९)

जो मनुष्य किसी परतंत्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि का उपभोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।

(२२०)

जो बुद्धिमान मनुष्य मोहनिद्रा में सोते रहनेवाले मनुष्यों के बीच रहकर संसार के छोटे-बड़े सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखे, इस महान् विश्व को अशाश्वत जाने, सर्वदा अप्रमत्त भाव से संयमाचरण में रत रहे वही मोक्षगति का सच्चा अधिकारी है।

(२२१)

जे ममाइअमइं जहाइ, से जहाइ ममाइअं ।
से हु दिट्ठभए मुणी, जस्स नत्थि ममाइअं ॥५॥

(२२२)

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥६॥

(२२३)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्स वि संजमो सेयो अदिन्तस्स वि किंचण ॥७॥

(२२४)

नाणस्स सव्वस्स पगासणाय,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥८॥

(२२५)

तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा,
विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झाय एगन्तनिसेवणा य,
सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥९॥

(२२१)

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है, वह ममत्व का परित्याग करता है। वास्तव में वही संसार से सच्चा भय खानेवाला मुनि है, जिसे किसी भी प्रकार का ममत्व-भाव नहीं है।

(२२२)

जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिए अपने अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़कर रखें।

(२२३)

जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गायें दान में देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देनेवाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

(२२४)

सब प्रकार के ज्ञान को निर्मल करने से, अज्ञान और मोह के त्यागने से, तथा राग और द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुखस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।

(२२५)

सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा करना, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास करना और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना, और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति प्राप्त करना, यह निश्रेयस का मार्ग है।

(२२६)

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धि ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥१०॥

(२२७)

न वा लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयन्तो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥११॥

(२२८)

जाइं च वुड्ढिं च इहऽज्ज पास,
भूएहिं सायं पडिलेह जाणे ।
तम्हाऽइविज्जो परमं ति नच्चा,
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं ॥१२॥

(२२९)

न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेन्ति धीरा ।
मेहाविणो लोभभया वईया,
संतोसिणो न पकरेन्ति पावं ॥१३॥

(२२६)

समाधि की इच्छा रखनेवाला तपस्वी श्रमण परिमित तथा शुद्ध आहार ग्रहण करे, निपुण बुद्धिवाले तत्त्वज्ञानी साथी की खोज करे, और ध्यान करनेयोग्य एकान्त स्थान में निवास करे।

(२२७)

यदि अपने से गुणों में अधिक या समान गुणवाला साथी न मिले, तो पापकर्मों का परित्याग कर तथा काम-भोगों में सर्वथा अनासक्त रहकर अकेला ही विचरे। परन्तु दुराचारी का कभी भूलकर भी संग न करे।

(२२८)

संसार में जन्म-मरण के महान् दुःखों को देखकर और यह अच्छी तरह जानकर कि—'सब जीव सुख की इच्छा रखनेवाले हैं' अहिंसा को मोक्ष का मार्ग समझकर सम्यक्त्वधारी विद्वान् कभी भी पाप-कर्म नहीं करते।

(२२९)

मूर्ख साधक कितना ही क्यों न प्रयत्न करें, किन्तु पाप-कर्मों से पाप-कर्मों को कदापि नष्ट नहीं कर सकते। बुद्धिमान् साधक वे हैं, जो पाप-कर्मों के परित्याग से पाप-कर्मों को नष्ट करते हैं। अतएव लोभ और भय से रहित सर्वदा सन्तुष्ट रहनेवाले मेधावी पुरुष किसी भी प्रकार का पापकर्म नहीं करते।

: १८ :

अप्प-सुत्तं

(२३०)

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दनं वणं ॥१॥

(२३१)

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२॥

(२३२)

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥३॥

(२३३)

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य ।
माऽहं परेहि दम्मन्तो, बन्धणेहि वहेहि य ॥४॥

: १८ :

आत्म-सूत्र

(२३०)

अपनी आत्मा ही नरक की वैतरणी नदी तथा कूट शाल्मली वृक्ष है। और अपनी आत्मा ही स्वर्ग की कामदुघा धेनु तथा नन्दन-वन है।

(२३१)

आत्मा ही अपने दुःखों और सुखों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। अच्छे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना मित्र है, और बुरे मार्ग पर चलनेवाला आत्मा अपना शत्रु है।

(२३२)

अपने-आपको ही दमन करना चाहिए। वास्तव में अपने-आपको दमन करना ही कठिन है। अपने-आपको दमन करनेवाला इस लोक में तथा परलोक में सुखी होता है।

(२३३)

दूसरे लोग मेरा बध बन्धनादि से दमन करें, इसकी अपेक्षा तो मैं संयम और तप के द्वारा अपने-आप ही अपना (आत्मा का) दमन करूँ, यह अच्छा है।

(२३४)

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥५॥

(२३५)

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥६॥

(२३६)

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥७॥

(२३७)

न तं अरी कंठ-छेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिइ मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥८॥

(२३८)

जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।

(२३४)

जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एकमात्र अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है।

(२३५)

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतनेवाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

(२३६)

पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा के जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(२३७)

सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना कि दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-कर पछताता है।

(२३८)

जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि 'मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन नहीं छोड़ सकता;'

तं तारिसं नो पयलेन्ति इन्दिया,
उवेन्ति वाया व सुदंसणं गिरिं ॥९॥

(२३९)

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विन्दिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुक्खाण मुच्चइ ॥१०॥

(२४०)

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥११॥

(२४१)

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥१२॥

उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे—भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को।

(२३९)

समस्त इन्द्रियों को खूब अच्छी तरह समाहित करते हुए पापों से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिए। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करती है, और सुरक्षित आत्मा संसार के सब दुःखों से मुक्त हो जाती है।

(२४०)

शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा जाता है, और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार-समुद्र को महर्षिजन पार करते हैं।

(२४१)

जो प्रव्रजित होकर प्रमाद के कारण पाँच महाव्रतों का अच्छी तरह पालन नहीं करता, अपने-आपको निग्रह में नहीं रखता, काम-भोगों के रस में आसक्त हो जाता है, वह जन्म-मरण के बन्धन को जड़ से नहीं काट सकता।

: १९ :

लोगतत्त-सुत्तं

(२४२)

धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल जंतवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।१।।

(२४३)

गइलक्खणो धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं ।।२।।

(२४४)

वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ।।३।।

(२४५)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं ।।४।।

(२४६)

सद्दंऽधयार-उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ।।५।।

: १९ :

लोकतत्त्व-सूत्र

(२४२)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छः द्रव्य हैं। केवलदर्शन के धर्ता जिन भगवानों ने इन सबको लोक कहा है।

(२४३)

धर्मद्रव्य का लक्षण गति है; अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थिति है; सब पदार्थों को अवकाश देना—आकाश का लक्षण है।

(२४४)

काल का लक्षण वर्तना है, और उपयोग जीव का लक्षण है। जीवात्मा ज्ञान से, दर्शन से, सुख से, तथा दुःख से जाना-पहचाना जाता है।

(२४५)

अतएव ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीव के लक्षण हैं।

(२४६)

शब्द, अन्धकार, उजेला, प्रभा, छाया, आतप (धूप), वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये सब पुद्गल के लक्षण हैं।

(२४७)

जीवाऽजीवा य बन्धो य पुण्णं पावाऽऽसवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ॥६॥

(२४८)

तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं ॥७॥

(२४९)

नाणेण जाणइ भावे, दंसणेणं य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ॥८॥

(२५०)

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
एय मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सुग्गइं ॥९॥

(२५१)

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं ।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं ॥१०॥

(२५२-२५३)

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥११॥
नामकम्मं च गोत्तं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥१२॥

(२४७)

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव सत्य-तत्त्व हैं ।

(२४८)

जीवादिक सत्य पदार्थों के अस्तित्व के विषय में सद्गुरु के उपदेश से, अथवा स्वयं ही अपने भाव से श्रद्धान करना, सम्यक्त्व कहा गया है ।

(२४९)

मुमुक्षु आत्मा ज्ञान से जीवादिक पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र्य से भोग-वासनाओं का निग्रह करता है, और तप से कर्ममलरहित होकर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है ।

(२५०)

ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप—इस चतुष्टय अध्यात्ममार्ग को प्राप्त होकर मुमुक्षु जीव मोक्षरूप सद्गति को पाते हैं ।

(२५१)

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल—इस भाँति ज्ञान पाँच प्रकार का है ।

(२५२-२५३)

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म बतलाये हैं ।

(२५४)

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥१३॥

(२५५)

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ ॥१४॥

(२५६)

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥१५॥

(२५७)

किण्हा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा, नामाइं तु जहक्कमं ॥१६॥

(२५८)

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ ॥१७॥

(२५९)

तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥१८॥

(२५४)

तप दो प्रकार का बतलाया है—बाह्य और अभ्यंतर। बाह्य तप छः प्रकार का कहा है, इसी प्रकार अभ्यन्तर तप भी छः ही प्रकार का है।

(२५५)

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, काय-क्लेश और संलेखना—ये बाह्य तप हैं।

(२५६)

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये अभ्यन्तर तप हैं।

(२५७)

कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, और शुक्ल—ये लेश्याओं के क्रमशः छः नाम हैं।

(२५८)

कृष्ण, नील, कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से युक्त जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

(२५९)

तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से युक्त जीव सद्गति में उत्पन्न होता है।

(२६०)

अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीओ आहिया ॥१६॥

(२६१)

इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥२०॥

(२६२)

एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥२१॥

(२६३)

एसा पवयणमाया, जे समं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिए ॥२२॥

(२६०)

पाँच समिति और तीन गुप्ति—इस प्रकार आठ प्रवचन-माताएँ कहलाती हैं।

(२६१)

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप, और उच्चार—ये पाँच समितियाँ हैं। तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर आठ प्रवचन-माताएँ हैं।

(२६२)

पाँच समितियाँ चारित्र्य की दया आदि प्रवृत्तियों में काम आती हैं, और तीन गुप्तियाँ सब प्रकार के अशुभ व्यापारों से निवृत्त होने में सहायक होती हैं।

(२६३)

जो विद्वान् मुनि उक्त आठ प्रवचन-माताओं का अच्छी तरह आचरण करता है, वह शीघ्र ही अखिल संसार से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

: २० :

पुज्ज-सुत्तं

(२६४)

आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥१॥

(२६५)

अन्नायउंछं चरइ विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धुं न विकत्थई स पुज्जो ॥२॥

(२६६)

संथारसेज्जासणभत्तपाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि सन्ते ।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा,
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥३॥

: २० :

पूज्य-सूत्र

(२६४)

जो आचार-प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करता है, जो भक्तिपूर्वक गुरु-वचनों को सुन एवं स्वीकृत कर कहने के अनुसार कार्य को पूरा करता है, जो गुरु की कभी अशातना नहीं करता, वही पूज्य है ।

(२६५)

जो केवल संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अपरिचितभाव से दोष-रहित भिक्षावृत्ति करता है, जो आहार आदि न मिलने पर कभी खिन्न नहीं होता और मिल जाने पर कभी प्रसन्न नहीं होता, वही पूज्य है ।

(२६६)

जो संस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदि का अधिक लाभ होने पर भी अपनी आवश्यकता के अनुसार थोड़ा ही ग्रहण करता है, सन्तोष की प्रधानता में रत होकर अपने-आपको सदा सन्तुष्ट बनाये रखता है, वही पूज्य है ।

(२६७)

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेण ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥४॥

(२६८)

समावयन्ता वयणाभिघाया,
कण्णं गया दुम्मणियं जणन्ति ।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइन्दिए जो सहइ स पुज्जो ॥५॥

(२६९)

अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥६॥

(२७०)

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे या वि अदीणवित्ती ।

(२६७)

संसार में लोभी मनुष्य के द्वारा किसी विशेष आशा की पूर्ति के लिए लोह-कंटक भी सहन कर लिये जाते हैं, परन्तु जो बिना किसी आशा-तृष्णा के कानों में तीर के समान चुभनेवाले दुर्वचनरूपी कंटकों को सहन करता है, वही पूज्य है।

(२६८)

विरोधियों की ओर से पड़नेवाली दुर्वचन की चोटें कानों में पहुँचकर बड़ी मर्मान्तिक पीड़ा पैदा करती हैं; परन्तु जो क्षमाशूर जितेन्द्रिय पुरुष उन चोटों को अपना धर्म जानकर समभाव से सहन कर लेता है, वही पूज्य है।

(२६९)

जो परोक्ष में किसीकी निन्दा नहीं करता, प्रत्यक्ष में भी कलह-वर्द्धक अंट-संट बातें नहीं बकता, दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाली एवं निश्चयकारी भाषा भी कभी नहीं बोलता, वही पूज्य है।

(२७०)

जो रसलोलुप नहीं है, इन्द्रजाली (जादू-टोना करनेवाला) नहीं है, मायावी नहीं है, चुगलखोर नहीं है, दीन नहीं है, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा नहीं रखता, स्वयं भी अपने मुँह से

नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥७॥

(२७१)

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुञ्चऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥८॥

(२७२)

तहेव डहरं च महल्लगं वा,
इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो विय खिंसएज्जा,
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥९॥

(२७३)

तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,
सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥१०॥

अपनी प्रशंसा नहीं करता, खेल तमाशा आदि देखने का भी शौकीन नहीं, वही पूज्य है।

(२७१)

गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु, अतः हे मुमुक्षु ! सद्‌गुणों को ग्रहण कर और दुर्गुणों को छोड़। जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर राग और द्वेष दोनों में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

(२७२)

जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु, और गृहस्थ आदि किसीका भी अपमान तथा तिरस्कार नहीं करता, जो क्रोध और अभिमान का पूर्णरूप से परित्याग करता है, वही पूज्य है।

(२७३)

जो बुद्धिमान मुनि सद्‌गुण-सिन्धु गुरुजनों के सुभाषितों को सुनकर तदनुसार पाँच महाव्रतों में रत होता है, तीन गुप्तियाँ धारण करता है, और चार कषायों से दूर रहता है, वही पूज्य है।

: २१ :

माहण-सुत्तं

(२७४)

जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई ।
रमइ अज्जवयणम्मि, तं वयं बूम माहणं ॥१॥

(२७५)

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमल-पावगं ।
राग-दोस-भयाईयं, तं वयं बूम माहणं ॥२॥

(२७६)

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥३॥

(२७७)

तसपाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ॥४॥

: २१ :

ब्राह्मण-सूत्र

(२७४)

जो आनेवाले स्नेही जनों में आसक्ति नहीं रखता, जो जाता हुआ शोक नहीं करता, जो आर्य-वचनों में सदा आनन्द पाता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७५)

जो अग्नि में डालकर शुद्ध किये हुए और कसौटी पर कसे हुए सोने के समान निर्मल है, जो राग, द्वेष तथा भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७६)

जो तपस्वी है, जो दुबला-पतला है, जो इन्द्रिय-निग्रही है, उग्र तपःसाधना के कारण जिसका रक्त और मांस भी सूख गया है, जो शुद्धव्रती है, जिसने निर्वाण (आत्मशान्ति) पा लिया है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७७)

जो स्थावर, जंगम सभी प्राणियों को भलीभाँति जानकर, उनकी तीनों ही प्रकार[१] से कभी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण

---

[१] **मन, वाणी और शरीर से; अथवा करने, कराने और अनुमोदन से।**

(२७८)

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥५॥

(२७९)

चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गिण्हाइ अदत्तं जे, तं वयं बूम माहणं ॥६॥

(२८०)

दिव्व-माणुस-तेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा काय-वक्केणं, तं वयं बूम माहणं ॥७॥

(२८१)

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥८॥

(२८२)

अलोलुयं मुहाजीविं, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम माहणं ॥९॥

कहते हैं।

(२७८)

जो क्रोध से, हास्य से, लोभ से अथवा भय से—किसी भी मलिन संकल्प से असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२७९)

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ—भले ही फिर वह थोड़ा हो या ज्यादा,—मालिक के सहर्ष दिये बिना चोरी से नहीं लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८०)

जो देवता, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकार के मैथुन का मन, वाणी और शरीर से कभी सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८१)

जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८२)

जो अलोलुप है, जो अनासक्त-जीवी है, जो अनागार (बिना घरबार का) है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों से अलिप्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८३)

जहित्ता पुव्व-संजोगं, नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं ॥१०॥

(२८४)

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण ण तावसो ॥११॥

(२८५)

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१२॥

(२८६)

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥१३॥

(२८७)

एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा ।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव य ॥१४॥

(२८३)

जो स्त्री-पुत्र आदि के स्नेह पैदा करनेवाले पूर्व सम्बन्धों को, जाति-बिरादरी के मेल-जोल को तथा बन्धु-जनों को एक बार त्याग देने के बाद फिर उनमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रखता, दोबारा काम-भोगों में नहीं फँसता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

(२८४)

सिर मूँडा लेनेमात्र से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जाप कर लेनेमात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता; निर्जन वन में रहनेमात्र से कोई मुनि नहीं होता; और न कुशा के बने वस्त्र पहन लेनेमात्र से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

(२८५)

समता से श्रमण होता है; ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है; ज्ञान से मुनि होता है; और तप से तपस्वी बना जाता है।

(२८६)

मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है, और शूद्र भी अपने कृत कर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्ण-भेद जन्म से नहीं होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊँचा नीचा हो जाता है।)

(२८७)

इस भाँति पवित्र गुणों से युक्त जो द्विजोत्तम (श्रेष्ठ ब्राह्मण) हैं, वास्तव में वे ही अपना तथा दूसरों का उद्धार कर सकने में समर्थ हैं।

: २२ :

भिक्खु-सुत्तं

(२८८)

रोइअ नायपुत्त-वयणे,
अप्पसमे मन्नेज्ज छ प्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥१॥

(२८९)

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूव-रयए,
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥२॥

(२९०)

सम्मदिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तव-संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराण पावगं,
मण-वय-कायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥३॥

: २२ :

भिक्षु-सूत्र

(२८८)

जो ज्ञातपुत्र—भगवान् महावीर के प्रवचनों पर श्रद्धा रखकर छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, जो अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, जो पाँच आस्रवों का संवरण अर्थात् निरोध करता है, वही भिक्षु है।

(२८९)

जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ—चार कषायों का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर दृढ़विश्वासी रहता है, जो चाँदी, सोना आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता, जो गृहस्थों के साथ कोई भी सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ता, वही भिक्षु है।

(२९०)

जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं है, जो ज्ञान, तप और संयम का दृढ़ श्रद्धालु है, जो मन, वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मों को नष्ट कर देता है, वही भिक्षु है।

(२६१)

न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा,
न य कुप्पे निहुइन्दिए पसन्ते।
संजमधुवजोगजुत्ते,
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ॥४॥

(२६२)

जो सहइ हु गामकंटए,
अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरव-सद्द-सप्पहासे,
समसुह-दुक्खसहे जे स भिक्खू ॥५॥

(२६३)

अभिभूय काएण परिसहाइं,
समुद्धरे जाइपहाउ अप्पयं।
विइत्तु जाई-मरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥६॥

(२६४)

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइन्दिए।

(२९१)

जो कलहकारी वचन नहीं कहता, जो क्रोध नहीं करता, जिसकी इन्द्रियाँ अचंचल हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम में ध्रुवयोगी (सर्वथा तल्लीन) रहता है, जो संकट आने पर व्याकुल नहीं होता, जो कभी योग्य कर्त्तव्य का अनादर नहीं करता, वही भिक्षु है।

(२९२)

जो कान में काँटे के समान चुभनेवाले आक्रोश वचनों को, प्रहारों को, तथा अयोग्य उपालंभों को शान्तिपूर्वक सह लेता है, जो भीषण अट्टहास और प्रचण्ड गर्जनावाले स्थानों में भी निर्भय रहता है, जो सुख-दुःख दोनों को एकसमान समभावपूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है।

(२९३)

जो शरीर से परीषहों को धैर्य के साथ सहन कर संसार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयंकर जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२९४)

जो हाथ, पाँव, वाणी और इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है, जो सदा अध्यात्म-चिंतन में ही रत रहता है, जो अपने-आपको

अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥७॥

(२६५)

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नायउंछं, पुलनिप्पुलाए ।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए,
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥८॥

(२६६)

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण-पूयणं च,
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥६॥

(२६७)

न परं वइज्जासि अयं कुसीले,
जेणं च कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण-पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥१०॥

भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो सूत्रार्थ का पूरा जाननेवाला है, वही भिक्षु है।

(२९५)

जो अपने संयम-साधक उपकरणों तक में भी मूर्च्छा (आसक्ति) नहीं रखता, जो लालची नहीं है, जो अज्ञात परिवारों के यहाँ से भिक्षा माँगता है, जो संयम-पथ में बाधक होनेवाले दोषों से दूर रहता है, जो खरीदने-बेचने और संग्रह करने के गृहस्थोचित धंधों के फेर में नहीं पड़ता, जो सब प्रकार से निःसंग रहता है, वही भिक्षु है।

(२९६)

जो मुनि अलोलुप है, जो रसों में अगृद्ध है, जो अज्ञात कुल की भिक्षा करता है, जो जीवन की चिन्ता नहीं करता, जो ऋद्धि, सत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह भी छोड़ देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है, वही भिक्षु है।

(२९७)

जो दूसरों को 'यह दुराचारी है' ऐसा नहीं कहता, जो कटु वचन —जिससे सुननेवाला क्षुब्ध हो—नहीं बोलता, 'सब जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं'—ऐसा जानकर जो दूसरों की निन्द्य चेष्टाओं पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिंता करता है, जो अपने-आपको उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नहीं बनाता, वही भिक्षु है।

(२९८)

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जयंतो,
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥११॥

(२९९)

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासंकुहए जे स भिक्खू ॥१२॥

(३००)

तं देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्चहियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥१३॥

(२९८)

जो जाति का अभिमान नहीं करता, जो रूप का अभिमान नहीं करता, जो लाभ का अभिमान नहीं करता, जो श्रुत (पांडित्य) का अभिमान नहीं करता, जो सभी प्रकार के अभिमानों का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान में ही रत रहता है, वही भिक्षु है।

(२९९)

जो महामुनि आर्यपद (सद्धर्म) का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है, जो घर-गृहस्थी के प्रपंच से निकलकर सदा के लिए कुशील लिंग (निन्द्य वेश) को छोड़ देता है, जो किसीके साथ हँसी-ठट्ठा भी नहीं करता, वही भिक्षु है।

(३००)

इस भाँति अपने को सदैव कल्याण पथ पर खड़ा रखनेवाला भिक्षु अपवित्र और क्षणभंगुर शरीर में निवास करना हमेशा के लिए छोड़ देता है; जन्म-मरण के बन्धनों को सर्वथा काटकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

: २३ :

मोक्खमग्ग-सुत्तं

(३०१)

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहमासे ? कहं सए ?
कहं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ? ॥१॥

(३०२)

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बन्धइ ॥२॥

(३०३)

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दन्तस्स पावं कम्मं न बन्धइ ॥३॥

(३०४)

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किंवा नाहिइ छेय-पावगं ॥४॥

: २३ :

मोक्षमार्ग-सूत्र

(३०१)

भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोलें ?—जिससे कि पाप-कर्म का बन्धन न हो।

(३०२)

आयुष्मन् ! विवेक से चले; विवेक से खड़ा हो; विवेक से बैठे; विवेक से सोये; विवेक से भोजन करे; और विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म नहीं बाँध सकता।

(३०३)

जो सब जीवों को अपने ही समान समझता है, अपने, पराये, सबको समान दृष्टि से देखता है, जिसने सब आस्रवों का निरोध कर लिया है, जो चंचल इन्द्रियों का दमन कर चुका है, उसे पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता।

(३०४)

प्रथम ज्ञान है, पीछे दया। इसी क्रम पर समग्र त्यागीवर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिए ठहरा हुआ है। भला, अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा ? श्रेय तथा पाप को वह कैसे जान सकेगा ?

(३०५)

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥५॥

(३०६)

जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ ।
जीवाऽजीवें अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ॥६॥

(३०७)

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ ।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥७॥

(३०८)

जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणइ ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ॥८॥

(३०९)

जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणइ ।
तया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ॥९॥

(३०५)

सुनकर ही कल्याण का मार्ग जाना जाता है। सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जाता है। दोनों ही मार्ग सुनकर ही जाने जाते हैं। बुद्धिमान साधक का कर्त्तव्य है कि पहले श्रवण करे और फिर अपने को जो श्रेय मालूम हो, उसका आचरण करे।

(३०६)

जो न तो जीव (चेतनतत्त्व) को जानता है, और न अजीव (जड़तत्त्व) को ही जानता है, वह जीव अजीव के स्वरूप को न जानने-वाला साधक भला, किस तरह संयम को जान सकेगा ?

(३०७)

जो जीव को भी जानता है और अजीव को भी जानता है, ऐसा जीव और अजीव—दोनों को भलीभाँति जाननेवाला साधक ही संयम को जान सकेगा।

(३०८)

जब जीव और अजीव—दोनों को भलीभाँति जान लेता है, तब वह सब जीवों की नानाविध गति (नरक तिर्यंच आदि) को भी जान लेता है।

(३०९)

जब वह सब जीवों की नानाविध गतियों को जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को भी जान लेता है।

(३१०)

जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणइ ।
तया निव्विंदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥१०॥

(३११)

जया निव्विंदए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ॥११॥

(३१२)

जया चयइ संजोगं सब्भिन्तरं बाहिरं ।
तया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ॥१२॥

(३१३)

जया मुण्डे भवित्ताणं पव्वयइ अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१३॥

(३१४)

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ॥१४॥

(३१०)

जब पुण्य, पाप, बन्धन और मोक्ष को जान लेता है, तब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगों को जान लेता है—अर्थात् उनसे विरक्त हो जाता है।

(३११)

जब देवता और मनुष्यसम्बन्धी समस्त काम-भोगों से विरक्त हो जाता है, तब अन्दर और बाहर के सभी सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है।

(३१२)

जब अन्दर और बाहर के समस्त सांसारिक सम्बन्धों को छोड़ देता है, तब मुण्डित (दीक्षित) होकर पूर्णतया अनागार वृत्ति (मुनि-चर्या) को प्राप्त करता है।

(३१३)

जब मुण्डित होकर अनागार वृत्ति को प्राप्त करता है, तब उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है।

(३१४)

जब उत्कृष्ट संवर एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को झाड़ देता है।

(३१५)

जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ॥१५॥

(३१६)

जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छइ ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥१६॥

(३१७)

जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ॥१७॥

(३१८)

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥१८॥

(३१९)

जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥१९॥

(३१५)

जब (अन्तरात्मा पर से) अज्ञानकालिमाजन्य कर्म-मल को दूर कर देता है, तब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

(३१६)

जब सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब जिन तथा केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है।

(३१७)

जब केवलज्ञानी जिन लोक अलोकरूप समस्त संसार को जान लेता है, तब (आयु समाप्ति पर) मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोधन कर शैलेशी (अचल-अकम्प) अवस्था को प्राप्त होता है।

(३१८)

जब मन, वचन और शरीर के योगों का निरोधन कर आत्मा शैलेशी अवस्था को पाती है—पूर्णरूप से स्पन्दन-रहित हो जाती है, तब सब कर्मों को क्षय कर—सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होती है।

(३१९)

जब आत्मा सब कर्मों को क्षय कर—सर्वथा मलरहित होकर सिद्धि को पा लेती है, तब लोक के मस्तक पर—ऊपर के अग्र भागपर स्थित होकर सदा काल के लिए सिद्ध हो जाती है।

(३२०)

सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणापहाविस्स दुल्लहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२०॥

(३२१)

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमईखन्तिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणन्तस्स सुलहा सोग्गई तारिसगस्स ॥२१॥

(३२०)

जो श्रमण भौतिक सुख की इच्छा रखता है, भविष्यकालिक सुख-साधनों के लिए व्याकुल रहता है, जब देखो तब सोता रहता है, सुन्दरता के फेर में पड़कर हाथ, पैर, मुँह आदि धोने में लगा रहता है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी दुर्लभ है।

(३२१)

जो उत्कृष्ट तपश्चरण का गुण रखता है, प्रकृति से सरल है, क्षमा और संयम में रत है, शान्ति के साथ क्षुधा आदि परीषहों को जीतनेवाला है, उसे सद्गति मिलनी बड़ी सुलभ है।

: २४ :

विवाद-सुत्तं

(३२२)

नत्थियवाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आऊ तेऊ वा, वाऊ आगासपंचमा ॥१॥

(३२३)

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥२॥

(३२४)

बम्हवाओ

जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणा हि दीसइ ॥३॥

: २४ :

विवाद-सूत्र

(३२२)

नास्तिक वाद

कितने ही लोगों की ऐसी मान्यता है कि इस संसार में जो कुछ भी है वह केवल पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पाँचवाँ आकाश— ये पाँच महाभूत ही हैं।

(३२३)

उक्त महाभूतों में से एक (आत्मा) पैदा होती है, भूतों का नाश होने पर देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है। [अर्थात्— जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। वह पाँच महाभूतों में से उत्पन्न होता है, और जब वे नष्ट होते हैं, तब उनके साथ ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है।]

(३२४)

ब्रह्मवाद

जैसे, पृथ्वी का समूह (पृथ्वीस्तूप) एक (एकसमान) है, तो भी पर्वत, नगर, घट, शराव आदि अनेक रूपों में पृथक्-पृथक् मालूम होता है; उसी तरह समस्त विश्व भी विज्ञ-स्वरूप (एक ही चैतन्य आत्मा के रूप में समान) है, तथापि भेद-बुद्धि के कारण वन, वृक्ष आदि जड़ तथा पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चैतन्य के रूप में पृथक्-पृथक् दिखाई देता है।

(३२५)

तज्जीवतच्छरीरवाओ

पत्तेयं कसिणे आया जे बाला जे य पंडिया ।
सन्ति पिच्चा न ते सन्ति, नत्थि सत्तोववाइया ॥४॥

(३२६)

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इओऽवरे ।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥५॥

(३२७)

अकिरियावाओ

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई ।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ॥६॥

(३२५)

तज्जीवतच्छरीरवाद

संसार में जितने भी शरीर हैं, वास्तव में वे ही एक-एक आत्मा हैं—अर्थात् आत्मा या जीव जो कुछ भी है, यह शरीर ही है। शरीर-नाश के बाद मूर्ख या पंडित, धर्मात्मा या पापी परलोक में जानेवाला कोई भी नहीं रहता। क्योंकि शरीर से पृथक् कोई भी सत्त्व (प्राणी) औपपातिक (एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होने-वाला) नहीं है।

(३२६)

न पुण्य है, न पाप है, और न इन दोनों के फलस्वरूप प्रस्तुत दृश्य जगत् से अतिरिक्त परलोक के नाम से दूसरा कोई जगत् ही है। शरीर के नाश के साथ ही तत्स्वरूप देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।

(३२७)

अक्रियावाद

आत्मा करनेवाला या करानेवाला—यों कहिए कि किसी भी प्रकार से कुछ भी क्रिया करनेवाला नहीं है। इसी भांति कितने ही प्रगल्भ (धृष्ट) होकर आत्मा को अकारक (अकर्त्ता) बतलाते हैं।

(३२८)

खंधवाओ

पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खण-जोइणो ।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥७॥

(३२९)

निच्च-वाओ

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
आयछट्ठा पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥८॥

(३३०)

दुहओ न विणस्सन्ति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतिभावमागया ॥९॥

(३२८)

स्कन्धवाद

कितने ही बाल (अज्ञानी) ऐसा कहते हैं कि संसार में मात्र रूपादि पाँच ही स्कन्ध हैं और वे सब क्षणयोगी—अर्थात् क्षण-क्षण में उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इनके अतिरिक्त, सहेतुक या निर्हेतुक तथा भिन्न या अभिन्न—दूसरा कोई भी (आत्मा-जैसा) पदार्थ नहीं है।

(३२९)

नित्यवाद

कितने ही लोगों का ऐसा कहना है कि पाँच महाभूत हैं, और इनसे भिन्न चित्स्वरूप छठा आत्मा है। तथा ये सब आत्मा और लोक शाश्वत हैं—नित्य हैं।

(३३०)

यह जड़ और चैतन्य—उभयस्वरूप जगत् न तो कभी नष्ट होता है, न कभी उत्पन्न ही होता है। असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, सत् का कभी नाश नहीं होता; इसलिए सब पदार्थ सर्वथा नियतता (नित्यता) को प्राप्त हैं।

(३३१)

नियतिवाओ

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥१०॥

(३३२)

सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया।
संगइयं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहिया ॥११॥

(३३३)

धाउ-वाओ

पुढवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ॥१२॥

(३३१)

नियतिवाद

कितने ही ऐसा कहते हैं कि संसार में जीवात्माएँ नैमित्तिक अथवा अनैमित्तिक जो भी सुख-दुःख का अनुभव करती हैं, तथा समय आने पर अपने स्थान पर च्युत होती हैं, वह सब आत्मा के अपने पुरुषार्थ से नहीं होता—नियति से ही होता है। अस्तु, जब अपने सुख-दुःख की आत्मा आप विधाता नहीं है, तब भला दूसरा कोई तो हो ही कैसे सकता है ?

(३३२)

जीवात्माएँ पृथक्-पृथक् रूप से जो सुख-दुःख का अनुभव करती हैं, वह न तो स्वकृत ही होता है और न परकृत ही। यह जो कुछ भी उत्थान या पतन हुआ करता है, सब सांगतिक है—नियति से है। (जब जहाँ जैसा बननेवाला होता है, तब वहाँ वैसा ही नियति-वश बन जाता है। इसमें किसी के पुरुषार्थ आदि का कुछ भी वश नहीं चलता।)

(३३३)

धातु-वाद

दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि पृथिवी, जल, तेज और वायु —इन चार धातुओं (धारक तथा पोषक तत्त्वों) का ही यह रूप (शरीर तथा संसार) बना हुआ है। इनके अतिरिक्त, दूसरा कुछ भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है।

(३३४)

जग-हेतुवाओ

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसिमाहिया ।
देव-उत्ते अयं लोए, बंभउत्ते य आवरे ॥१३॥

(३३५)

ईसरेण कड़े लोए, पहाणाइ तहाऽवरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए ॥१४॥

(३३६)

सयंभुणा कड़े लोए, इइ वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुआ माया, तेण लोए असासए ॥१५॥

(३३७)

उवसंहारो

एवमेयाणि जम्पन्ता, बाला पंडियमाणिणो ।
नियथानियथं सन्तं, अयाणन्ता अबुद्धिया ॥१६॥

(३३४)

जगत्कर्तृत्ववाद

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कितने ही लोगों का यह भ्रान्तिमय वक्तव्य है—

—"कोई कहते हैं कि यह लोक देवों ने बनाया है।"

—"कोई कहते हैं कि यह लोक ब्रह्मा ने बनाया है।"

(३३५)

—"कोई कहते हैं कि यह लोक ईश्वर ने बनाया है।"

—"कोई कहते हैं कि जड़ और चैतन्य से युक्त तथा सुख और दुःख से समन्वित यह लोक प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा बना है।"

(३३६)

—"कोई कहते हैं कि—यह लोक स्वयम्भू ने बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। अनन्तर मार ने माया का विस्तार किया—इस कारण लोक अशाश्वत (अनित्य) है।"

(३३७)

उपसंहार

अपने-आपको पण्डित माननेवाले बुद्धिहीन मूर्ख इस प्रकार की अनेक बातें करते हैं। परन्तु नियति क्या है और अनियति क्या, यह कुछ भी नहीं जानते, समझते।

(३३८)

ते नावि संधिं नच्चाणं, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥१७॥

(३३९)

नाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहोन्ति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥१८॥

(३४०)

उच्चावयाणि गच्छन्ता, गब्भमेस्सन्तिऽणन्तसो ।
नायपुत्ते महावीरे एवमाह जिणुत्तमे ॥१९॥

(३३८)

वे न तो ठीक-ठीक कर्म-सन्धि का ही ज्ञान रखते हैं, और न उन्हें कुछ धर्म का ही भान है। जो ऐसी अनर्गल बातें करते हैं, वे संसार (-समुद्र) से पार नहीं हो सकते।

(३३९)

जरा, मरण और व्याधि से पूर्ण संसार-चक्र में वे लोग बार-बार नाना प्रकार के दुःख भोगते रहते हैं।

(३४०)

वे लोग कभी तो ऊँची योनि में जाते हैं, और कभी नीची योनि में जाते हैं। यों ही इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार गर्भ में पैदा होंगे, जन्म लेंगे और मरेंगे—जिनश्रेष्ठ ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी ने ऐसा कहा है।

: २५ :

खामणासुत्तं

(३४१)

सव्वस्स जीवरासिस्स भावग्रो धम्मनिहिग्रनिग्रचित्तो ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स ग्रहयं पि ॥१॥

(३४२)

सव्वस्स समणसंघस्स भगवग्रो ग्रंजलिं करिग्र सीसे ।
सव्वे खमावइत्ता खमामि सव्वस्स ग्रहयं पि ॥२॥

(३४३)

ग्रायरिए उवज्झाए सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥३॥

(३४४)

खामेमि सव्वे जीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥४॥

(३४५)

जं जं मणेण बद्धं जं जं वायाए भासिग्रं पावं ।
जं जं काएण कयं मिच्छा मि दुक्कडं तस्स ॥५॥

: २५ :

क्षमापन सूत्र

(३४१)

धर्म में स्थिर बुद्धि होकर मैं सद्भावपूर्वक सब जीवों के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनके सब अपराधों को मैं भी सद्भावपूर्वक क्षमा करता हूँ।

(३४२)

मैं नतमस्तक होकर भगवत श्रमणसंघ के पास अपने अपराधों की क्षमा माँगता हूँ और उनको भी मैं क्षमा करता हूँ।

(३४३)

आचार्य, उपाध्याय, शिष्यगण और सार्धमिक बन्धुओं तथा कुल और गण के प्रति मैंने जो क्रोधादियुक्त व्यवहार किया हो उसके लिए मन, वचन और काय से क्षमा माँगता हूँ।

(३४४)

मैं समस्त जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा दान दें। सर्व जीवों के साथ मेरी मैत्रीवृत्ति है; किसी के भी साथ मेरा वैर नहीं है।

(३४५)

मैंने जो जो पाप मन से—संकल्पित—किये हैं, वाणी से बोले हैं और शरीर से किये हैं, वे मेरे सब पाप मिथ्या हो जायँ।

पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

संवर—अनासक्त प्रवृत्ति—आत्मा की शुद्ध प्रवृत्ति।

अनुत्तर—उत्तमोत्तम।

अनगार—जिसका अमुक एक घर नहीं है अर्थात् निरंतर सविधि भ्रमणशील साधु।

केवली—केवल ज्ञानवाला—सतत शुद्ध आत्मनिष्ठ।

शैलेशी—शिलेश—हिमालय; हिमालय के समान अकंप स्थिति।

परीषह—जब साधक साधना करता है तब जो जो विघ्न आते हैं उनके लिए 'परीषह' शब्द प्रयुक्त होता है। साधक को उन सब विघ्नों को सहन करना ही चाहिए इसलिए उनका नाम 'परीषह' हुआ।

औपपातिक—उपपात अर्थात् स्वर्ग में या नरक में जन्म होना। औपपातिक का अर्थ हुआ स्वर्गीय प्राणी या नारकी प्राणी।

त्रस—धूप से त्रास पाकर छाँह का और शीत से त्रास पाकर धूप का आश्रय लेनेवाला प्राणी—त्रस।

तिर्यंच—देव, नरक और मनुष्य को छोड़कर शेष जीवों का नाम 'तिर्यंच' है।

निर्ग्रन्थ—गाँठ देकर रखने लायक कोई चीज़ जिनके पास नहीं है—अपरिग्रही—साधु।

एषणीय—शोधनीय—खोज करने लायक—जिनकी उत्पत्ति दूषित है या नहीं इस प्रकार गवेषणा के योग्य ।

विड—गोमूत्रादिक द्वारा पका हुआ नमक ।

रजोहरण—रज को हरनेवाला साधन—जो आजकल पतली ऊन की डोरियों से बनाया जाता है—जैन साधु निरंतर पास रखते हैं—जहाँ बैठना होता है वहाँ उससे झाड़कर बैठते हैं । जिसका दूसरा नाम 'ओघा'—'चरवला' है ।

आस्रव—आसक्ति युक्त अच्छी या बुरी प्रवृत्ति ।

द्वीन्द्रिय—स्पर्श और रस, इन दो इन्द्रियों वाले जीव—जैसे जोंक इत्यादि ।

त्रीन्द्रिय—स्पर्श, रस सौर घ्राण इन तीन इन्द्रियों वाले जीव—जैसे चींटी आदि ।

चतुरिन्द्रिय—स्पर्श, रस, घ्राण और नेत्र—इन चार इन्द्रियों वाले प्राणी—जैसे भ्रमर आदि ।

किंपाकफल—जो फल देखने में और स्वाद में सुन्दर होता है पर खाने से प्राण का नाश करता है ।

पुद्गल—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द वाले जड़ पदार्थ या जड़ पदार्थ के विविध रूप ।

निर्जरा—कर्मों को नाश करने की प्रवृत्ति—अनासक्त चित्त से प्रवृत्ति करने से आत्मा के सब कर्म नाश हो जाते हैं ।

श्रद्धान—श्रद्धा—आप्त पुरुष में दृढ़ विश्वास।

सचित्त—चित्तयुक्त—प्राणयुक्त—जीवसहित कोई भी पदार्थ।

अचित्त—सचित्त से उलटा—निर्जीव।

कषाय—आत्मा के स्वरूप को कष—नाश—करनेवाले, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार महादोष।

अगृद्ध—अलोलुप।

मति—इन्द्रियजन्य ज्ञान।

श्रुत—शास्त्रज्ञान।

मनःपर्याय—दूसरों के परोक्ष वा अपरोक्ष मन के भावों को ठीक पहचाननेवाला ज्ञान।

अवधि—रूपादियुक्त परोक्ष वा अपरोक्ष पदार्थ को जान सकनेवाला मर्यादित ज्ञान।

केवल—सब को जान सकनेवाला ज्ञान।

ज्ञानावरणीय—ज्ञान के आवरण रूप कर्म—ज्ञान, ज्ञानी वा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेषादि दुर्भाव रखने से ज्ञानावरणीय कर्म बँधते हैं।

दर्शनावरणीय—दर्शनशक्ति के आवरणरूप कर्म।

वेदनीय—सांसारिक सुख वा दुःख के साधनरूप कर्म।

मोहनीय—मोह को उत्पन्न करनेवाले कर्म—मोहनीय कर्म के ही प्राबल्य से आत्मा अपना स्वरूप नहीं पहचानता।

ऊनोदरी—भूख से कुछ कम खाना—उदर को ऊन रखना—पूरा न भरना।

संलेखना—कषाय का अन्त करने के लिए उसके निर्वाहक और पोषक आन्तर और बाह्य निमित्तों को घटाते हुए कषाय को पतला बनाने की—शरीर के अन्त तक चलती हुई प्रवृत्ति।

वैयावृत्त्य—बाल, वृद्ध,रोगी ऐसे अपने समान धर्मियों की सेवा।

लेश्या—आत्मा के परिणाम—अध्यवसाय।

समिति—शारीरिक, वाचिक और मानसिक सावधानता।

गुप्ति—गोपन करना—संरक्षण करना; मन, वचन और शरीर को दुष्ट कार्यों से बचा लेना।

ईर्या—गमन—आगमन वगैरे क्रिया।

एषणा—निर्दोष वस्त्र पात्र और खानपान की शोध करना।

आदान-निक्षेप—कोई भी पदार्थ को लेना या रखना—मूकना।

उच्चारसमिति—शौच क्रिया वा लघुशंका अर्थात् किसी भी प्रकार का शारीरिक मल। मल को ऐसे स्थान में छोड़ना जहाँ किसी को लेश भी कष्ट न हो और जहाँ कोई भी आता जाता न हो और देख भी न सके ।